❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ३ अङ्क १

Year 3 Number 1

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, उ० प्र०

(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मंडल

काशीराम अग्रवाल, तिनसुकिया (आसाम)

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) एक अंक का १)

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेंट, शाहजहांपुर

उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूचीः—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय—संस्कार शून्यता		२
३—वेद	समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी, फतेहगढ़	५
४—होली	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्रीरामचन्द्र मिशन	८
५—अनन्त यात्रा		१०
६—प्रीति की रीति (कहानी)	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	१५
७—भजन	धरमदास	१९
८—पतंग और मानव	डा० विमला पाठक, एम० ए० पी० एच० डी०	२०
९—श्रद्धा का फूल (प्रार्थना)	दिवंगत पं० रामेश्वर प्रसाद मिश्र	२३
१०—अहं ब्रम्हास्मि	श्री रामदास चतुर्वेदी बी. ए. एल. एल. बी.	२४
११—अनन्त प्रश्न (कविता)	श्रीमती कान्ति श्रीवास्तव	२७
१२—जीवन का लक्ष्य	श्री ईश्वर सहाय जी	२८
१३—अनुपम दर्शन (भजन)	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी	३१
१४—स्तवराज	(महाभारत शान्ति पर्व में भीष्म द्वारा स्तवन)	३२
15–Hints to a Seeker	Shri Ram Chndra Ji, President, S. R. C. Mission	33
16–Phenomenon of Pain and Pleasure	Shri B. P. Srivastava B. A., LL. B.	38
17–Human Beings who live in God	Shri Ishwar Sahai Ji	42
18–Indian Culture & Philosophy	Shri Raghunandan Prasad M. A., LL. B.	47
19–Prayer	Rabindra Nath Tagore	59
20–Evils of Caste Prejudice	Shri Durga Shanker Awasthi	53
21–Self Surrender	S. P. Srivastava M. A.	56
22–Essentials Commonly Ignored	Shri Shyam Swaroop Kamthan B. Com.	60
23–Experiences of an Abhyasi	An Abhyasi	62

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

प्रतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो ।)

वर्ष ३] चैत्र, शाकाब्द १८८१, सं० २०१६ विक्रमी [अङ्क १

Year 3] March–April 1959 [Number 1

★ प्रार्थना ★

हे नाथ, तू ही मनुष्य–जीवन का ध्येय है ।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।

बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

[श्री राम चन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

सम्पादकीयः—

संस्कार-शून्यता

भारतीय दर्शन की पारिभाषिक शब्दावलि में 'मोक्ष'-प्राप्ति का साधन 'संस्कार-शून्यता' बतलाया गया है। लगभग सारे भारतीय दर्शन में इस प्रक्रिया को दो मुख्य स्थितियों (Stages) में विभाजित किया गया है:—

(१) संस्कार बनने की प्रक्रिया का रुक जाना, और (२) पूर्व-सञ्चित संस्कारों का नष्ट होना। जैन दर्शन की पारिभाषिक शब्दावलि में इन स्थितियों को क्रमशः 'संवर' और 'निर्जरा' कहा गया है।

आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति के संदर्भ में हम सर्व प्रथम 'संस्कार' के प्रत्यय को समझने का प्रयास करें। भारतीय दर्शन में प्रकृति की क्रिया के विषय में दो सिद्धान्त स्वीकार किये गये हैं, जो नितान्त बुद्धि-संगत है:—(i) प्रत्येक क्रिया का परिणाम अवश्यम्भावी है। (यह आधुनिक विज्ञान में 'कारणता का सिद्धांत' है, जो समस्त जड़ और चेतन प्रकृति पर लागू है।); (ii) मनुष्य को मूलतः अपनी क्रियाओं का चुनाव करने की स्वतंत्रता है। (यह पश्चात्य नीति शास्त्र में समाहन-स्वातन्त्र्य अर्थात् Freedom of Willका सिद्धान्त है, और चेतन प्रकृति के क्षेत्र में लागू है।)

इन सिद्धान्तों को एक साथ रख कर हम अपनी क्रियाओं का स्वभाव समझने का प्रयास करें। समस्त जड़-चेतन प्रकृति के क्षेत्र में प्रत्येक क्रिया का एक परिणाम तुरन्त प्राप्त होने वाला होता है। उदाहरणार्थ आक्सीजन और हाइड्रोजन के निश्चित अनुपात में मिल जाने के परिणामस्वरूप पानी की एक बूंद बन जाना; आग में उँगली पड़ जाने के परिणामस्वरूप उँगली का जल जाना, बहुत अधिक भोजन कर लेने के परिणामस्वरूप अपच हो जाना आदि। वास्तव में इस कोटि का परिणाम बन्धन उत्पन्न करने वाला नहीं होता। इसका उपयुक्त ज्ञान प्राप्त करके तो विवशता से मुक्ति प्राप्त होती है, जैसे कि बिजली की शक्ति के कार्य-कारणात्मक नियम का समुचित ज्ञान प्राप्त करके उस शक्ति पर स्वामित्व प्राप्त हो जाता है। यही विज्ञान की महान उपयोगिता है।

जड़-प्रकृति के क्षेत्र में तो क्रियाओं का परिणाम यहीं तक सीमित रहता है। किन्तु चेतना के विकास के साथ साथ क्रियाओं का एक और परिणाम उत्पन्न होने लगता है, जो कार्य-कारणात्मक नियम का ज्ञान रहते हुए भी उसके समुचित उपयोग में बाधक सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ अधिक भोजन और अपच को सम्बद्ध करने वाले कार्य-कारणात्मक नियम का ज्ञान रहते हुए भी अधिक भोजन करते जाने की विवशता। वास्तव में इसी प्रकार की विवशता मानव का अभिशाप है, जिसके कारण विज्ञान के क्षेत्र में इतनी प्रगति करके भी मानव के लिये शान्ति और सुख दुर्लभ है। यदि आधुनिक मानव संस्कृति के समक्ष उपस्थित संकट की समस्या को सुलझाना है, तो इस प्रकार की विवशता का विवेचन करके उससे मुक्ति प्राप्त करना नितान्त अनिवार्य ही होगा।

वास्तव में इस प्रकार की विवशता हमारी अपनी उत्पन्न की हुई है। मानव, चेतना के विकास की एक उत्कृष्ट स्थिति में है, जहाँ उसकी क्रियाओं का नियन्त्रण उसकी अपनी इच्छा द्वारा होता है। यही मानव के लिए बहुत बड़ा वरदान है। किन्तु मानव अपनी ही इच्छा से अपनी इच्छा की स्वाभाविक स्वतंत्रता को नष्ट कर देता है। भारतीय मनोविज्ञान में इच्छा की स्वतंत्रता को नष्ट कर देने वाली मानसिक शक्ति को 'आसक्ति' अथवा 'तृष्णा' कहा गया है। बौद्ध दर्शन, पातञ्जल योग और गीता में मनोविज्ञान का सुव्यवस्थित विकास पाया जाता है, और इनमें समान रूप से 'आसक्ति' को मानव की विवशता का मूल कारण माना गया है। इस विवेचन में कोई भी रहस्य की बात नहीं है। भूख लगने पर भोजन की इच्छा होना और भोजन करना नितान्त स्वाभाविक है। किन्तु भोजन के प्रति अनुचित आसक्ति द्वारा अधिक भोजन करने की मानसिक विवशता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार की विवशता मानव के लिये बंधन का निर्माण करती है और इसी प्रकार की विवशता का पारिभाषिक नाम 'संस्कार' है। परिस्थिति के अनुकूल इच्छा उत्पन्न होना और तदनुसार क्रिया सम्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक है। इससे मुक्त होने की बात प्राकृतिक क्षेत्र में अर्थहीन है, क्योंकि इसके द्वारा कोई बन्धन उत्पन्न होता ही नहीं। किन्तु किसी इच्छा के साथ आसक्ति का सम्मिश्रण हो जाने पर जो क्रिया उत्पन्न होती है, वह भविष्य के लिये बन्धन का निर्माण कर देती है। इच्छा का स्वातंत्र्य

नष्ट होने लगता है, वह विशेष क्रिया लगभग अनिच्छित ढङ्ग से होने लगती है। उमर खैय्याम के शब्दों में 'हजार बार तौबा करके भी बसन्त ऋतु में गुलाबी जाम हाथ में आते ही तौबा कच्चे धागे की भांति टूट जाती है'। वास्तव में यही 'संस्कार-निर्माण' की प्रक्रिया है। इसके परिणामस्वरूप इच्छा की शक्ति और स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है।

अब 'संस्कार-हीनता' की स्थिति पर विचार किया जा सकता है। जो क्रिया परिस्थिति के अनुकूल उत्पन्न होकर बिना किसी प्रकार की आसक्ति उत्पन्न किये, अपने तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति कर समाप्त हो जाती है, उसका जीव (organism) पर कोई स्थायी प्रभाव शेष नहीं रहता, पारिभाषिक शब्दों में वह 'संस्कार' निर्माण नहीं करती। जब किसी व्यक्ति के समस्त कर्म इसी प्रकार होने लगें तब उसे 'संवर' अर्थात् संस्कार न बनने की अवस्था में स्थित कहा जा सकता है। यह स्थिति फिर भी पूर्ण-स्वातंत्र्य अर्थात् 'मोक्ष' की स्थिति नहीं कही जा सकती, क्योंकि जो संस्कार अभी तक बन चुके हैं, वह प्रकृति के व्यापक नियम के अनुसार निष्परिणाम नहीं हो सकते जीव (organism) पर क्रियाओं का जो स्थायी प्रभाव पड़ चुका हैं, उसे समाप्त होने के लिए उपयुक्त अवसर और समय की अपेक्षा रहेगी। यह प्रक्रिया पर्याप्त समय में अपने आप भी पूरी हो सकती है, उदाहरणार्थ जागरण अथवा स्वप्न की अवस्था में प्राप्त अनुभवों और घटनाओं के द्वारा, या किसी सुयोग्य चिकित्सक (गुरु) द्वारा निर्धारित विधियों का अनुसरण करके। आधुनिक मनोविज्ञान में मनोविश्लेषण सिद्धान्त(Psychoanalysis) इन प्रक्रियाओं को स्वीकार करता है। अन्तर केवल इतना है कि आधुनिक मनोविश्लेषण सिद्धांत का लक्ष्य व्यक्तित्व को विबोध--संगत (Consistent with Reason)बनाना होता है, जबकि भारतीय मनोविज्ञान में बिबोध के प्रति आसक्ति को भी 'संस्कार'-निर्माण की प्रक्रिया में ही सहायक माना जाता है।

पूर्णतः 'संस्कार-शून्य' व्यक्ति का प्रकृति के साथ पूर्ण तादात्म्य रहता है, दूसरे शब्दों में उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता समाप्त हो जाती है, उसका प्रत्येक कार्य (शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक आदि) प्रकृति के नियम की अभिव्यक्ति मात्र होता है। किन्तु वह स्वयं उन कार्यों का दर्शक मात्र बना रहता है जैसे कि कोई उन सभी घटनाओं का दर्शक होता है, जिनसे उसका कोई सबंध नहीं। ऐसी स्थिति निःसन्देह किसी भी दृष्टिकोण से आदर्श है। ——सम्पादक

वेद

(समर्थ गुरू श्री रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़)

(गताङ्क से आगे)

श्रुति मुकम्मल शब्द है। इसी से रचना की धारा फूटती है। इस धारने तीन सूरतें कायम कीं सृष्टि, स्थिति और लय। 'ॐ' में बीज रूप से यह तीनों हालतें मौजूद रहती हैं और इनका सिलसिला हमेशा से बराबर चला आता है और वह तीनों सूरतों में काम किया करता है। चूंकि वह सब है तथा सबको घेरे हुए भी है इसलिये उसमें ज्ञान है, बल्कि वह खुद ज्ञान है। शब्द के साथ ज्ञान का रहना लाजमी है। शब्द और अर्थ साथ साथ रहते हैं और दोनों एक है। इस दृष्टिकोण से वह त्रैलोक्य के ज्ञान का नाम पाता है।

(१) 'ॐ' से किस प्रकार तीन गुण, तीन मात्रा, तत्व और प्रकृतियां पैदा हो गईं। यह मसला[1] तत्व-विचार का है, जो सांख्य है जिस पर विस्तार से बहस अगले पर्चे में हैं। (२) इन्सानी जिन्दगी अपनी विशेषता के साथ कैसे व्यक्त होती है—यह बात इन्सानी-जिन्दगी से ताल्लुक रखती है जो व्यवहार है।

'ॐ' में तीन खासियतें हैं। (१) अ, उ और म्। (२) 'अ' आरम्भ है-'उ' बीच है तथा 'म' खात्मा है। 'ॐ' मुहीते[2] कुल है। (३) 'अ' सत् है-'उ' चित् है और 'म' आनन्द है-'ॐ' सच्चिदानन्द है।

(४) 'अ' नींव है-'उ' दीवार है तथा 'म' छत है—'ॐ' तीनों ही हैं।

(५) 'अ' कर्म है-'उ' ज्ञान है और 'म' उपासना है।

(६) 'अ' शरीर है-'उ' हृदय है तथा 'म' आत्मा है।

(७) 'अ' सत् है-'उ' रज है तथा 'म' तम है ॐ त्रिगुणात्मक है। इनके अतिरिक्त दिली मुराद[3] के इजहार[4] के लिये और सम-

१—विषय २—सर्व व्यापी ३—अभि प्राय ४—अभि व्यक्ति।

झाने बुझाने के लिये उनकी जगह व्यवहार, प्रतिभास और परमार्थ शब्द गढ़ लिये जाते हैं। (१) व्यवहार सत् है, (२) प्रतिभास चित् है और (३) परमार्थ आनन्द है।

'सत्' अस्तित्व को कहते हैं। व्यवहार उस अस्तित्व के इजहार का और जहूर का जरिया[५] है 'व्यवहार' अमल व शुगल, पेशा, कारीगरी और कर्म, धर्म है। इनका इजहार सत् और सतपने से ही होता है क्योंकि अगर अस्तित्व न हो तो फिर कोई किस तरह इनको करे और उनके करने की सूरतें कैसे सम्भव हों। तमाम कर्म और धर्म का ताल्लुक शरीर से है इसलिये यह शरीर ही इजहार की बदौलत[६] और सदौलत[७] सूरत है और इस दृष्टि से जिस्म सत् है और इसी कारण इस जिस्म के जिस्मानी कारोबार को वेद को आरम्भ माना गया है कर्म जिन्दगी की पहली और जरूरी अनिवार्य शर्त है। बगैर जिस्म के अस्तित्व का गुमान[८] कब और कैसे हो सकता है। जिसकी तीन किस्में हैं:—(१) जाहिरी या जिस्म कसीफ, स्थूल शरीर कहते हैं। यह मांस, खाल हड्डी, खून, चर्बी आदि का बना है। यह अन्नमय-कोष है जो गिजा[९] से बनता है। दिल या जिस्म लतीफ, जिसका सूक्ष्म शरीर कहते हैं। (२) यह मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से बना है। यह मनो-मय है, और विज्ञानमय कोष वह है जो ज्ञान या खयाल अथवा अक्ल व तमीज और गौर व फिक्र की गिजा से बनता है। (३) तीसरा जिस्म रूह है जो कारण शरीर कहलाता है। यह खुशी, मसर्रत आनन्द व सुख से बनता है। यह आनन्द मय-कोष है और खुशी इसकी गिजा है। इन सबके नाम और काम पर गौर करना चाहिए, और फिर इन सबके जिस्म होने का पता लगेगा।

(१) खारिजी जिस्म यानी स्थूल-देह का बोध जागृति-अवस्था (आलमे-बेदारी) में होता है।

(२) बातिनी—जिस्म या सूक्ष्म-शरीर का बोध स्वप्नावस्था (आलमे-ख्वाब) में होता है जो दिल है।

५—साधन ६—स्थूल ७—स्पष्ट ८—खयाल ९—भोजन।

(३) कारण-शरीर (रुहानी-जिस्म) का बोध, सुषुप्ति अवस्था (आलमे-इसतगराक) में होता है, यह रूह है। जिस्म को नासूत, दिल को मलकूत और रूह को जबरूत कहते हैं। इन तीनों का इल्म भी तीन तरीकों से होता है। (१) स्थूल देह का इल्म प्रत्यक्ष प्रमाण से यानी हवासी-इल्म[१०] से होता है जो पांच तरह का है। बसारत, समाअत, शाम्मा, जायका, लामसा, अर्थात रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श।

(२) सूक्ष्म-शरीर यानी जिस्मे-लतीफ या दिल का पता अनुमान (कयासी-इल्म) से होता है जो गौर व फिक्र[११], फहम व जका[१२], इदराक व फैसला[१३] है। इस इल्म में चित्त मन बुद्धि और अहङ्कार सम्मिलित रहते हैं।

(३) कारण-शरीर यानी रूहानी जिस्म का इल्म शब्द।

अर्थात् शहादती इल्म से होता है। साधारण विद्वान शब्द प्रमाण द्वारा ज्ञात एकता का सम्भवतः यह अर्थ समझते हैं कि परलोक को बाह्येन्द्रयों से देखें, और इस पर लड़ते झगड़ते हैं। लेकिन उस का अर्थ यह है जो ऊपर बयान किया गया है। इसको अनुभव होता है, बाह्येन्द्रियाँ और व्यावहारिक बुद्धि भी काम नहीं कर सकती है।

अतः यह सब जिस्म ही हैं, और जिस्म ही अस्तित्व है।

१—स्थूल देह (शरीर):—कर्म का औजार है। बल्कि वह स्वयं कर्म है और बिना कर्म के रह नहीं सकता।

२—सूक्ष्म देह (हृदय):—ज्ञान या सोच विचार का औजार है। बल्कि वह स्वयं ज्ञान है, और बिना सोचे समझे रह नहीं सकता।

३—कारण देह (आत्मा):—आनन्द अर्थात खुशी का औजार है। बल्कि वह स्वयं आनन्द है, और बिना खुशी के रह नहीं सकता।

इस प्रकार कर्म प्रारम्भिक, ज्ञान बीच की, और आनन्द आखिरी हालत है। इसी कारण कर्म को वेद का आरम्भ कहना चाहिए।

१०—इन्द्रिय जन्य ज्ञान ११—ध्यान और चिन्तन १२—अन्तर्दृष्टि, समझ (बुद्धि) १३—तर्क और निर्णय।

होली

[श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष, श्री रामचन्द्र मिशन]

कल होली का दिन है। रङ्ग और गुलाब पाशी की धूम है। खेलने वालों की खुशी तो आज ही से शुरू हो गई होगी। मगर भाई, किन लोगों को ?—उनको जिनकी तबीयत खेल की तरफ़ मायल[1] है[2]। मगर क्या भाई, यह भी होता है कि दूसरों की या ज्यादातर जिनका उस तरफ़ झुकाव हो, उनके देखने वालों को भी कुछ रङ्ग सवार होने लगता है। मैं समझता हूँ ऐसा जरूर होता होगा। मगर किन लोगों का ?—जिनकी तबीयत रङ्ग को पहचानती है। अगर हमारी तबीयत नहीं पहचानती, तो पहचानने की कोशिश करना चाहिये। आप कहेंगे कि जिस के आँखें हैं, उसे तो रङ्ग-काला पीला, नीला, वग़ैरः-सब सूझेगा। मैं यह कहूँगा कि जब तक आँख को काला, पीला, नीला वग़ैरः, जो रङ्ग का रङ्ग है, पहचानने की तमीज़[3] है तब तक उसे रङ्ग की तमीज़[3] नहीं कही जा सकती। तबीयत में जब तक रङ्गीनी है, रङ्ग की क़द्र नहीं होती। अब भाई होली मेरी समझ में नहीं आता कि रङ्ग पहचनवाने आती है या वह उसकी सिनअत[4] का इज़हार है ! इस का फ़ैसला आप खुद करें। मुझ से अगर आप कहें तो मुख्तसर[5] जवाब मेरा यह हो सकता है कि रङ्ग खेलते खेलते इन्सान को बेरङ्ग हो जाना चाहिए। अब अगर कहीं मुझे भी होली का रङ्ग सवार हो जावे, तो नशाबाजों की तरह इस का जवाब आधा तीतर और आधा बटेर दूँगा। वह क्या होगा ?-होल (Whole) का अर्थ 'कुल' है, और यह अँग्रेजी शब्द है। अब चूँकि इसमें 'ई' लगा दी गई, तो फ़ारसी व्याकरण के अनुसार वह 'ई' निस्बती[7] कहलाती है। इस का अर्थ यह है कि यदि हम कुल से निस्बत जोड़े हैं, तो बाकई वही दृश्य हमारे सामने हो जाता है अतः यह सिद्ध होता है कि यदि हम कहीं कुल से निस्बत रखने लगे, तो हम में रङ्गीनी उसी कुल के अनुसार निस्बतन जरूर रहेगी।

१—झुकी हुई २—विवेक ३—वास्तविक ज्ञान ४—कारीगरी ५—अभिव्यक्ति ६—संक्षिप्त ७—सम्बन्ध बोधक।

और कहीं हम निस्बत देते देते उससे बेखबर हो गये, तो आप खुद बताइये कि आपकी क्या शक्ल हो जावेगी। वही लय-अवस्था, जिस की हम तलास में हैं। क्या अच्छा हो कि हम होली से यह सबक लें।

क्या आप मुझे यह मौका देंगे कि मैं आपको होली की मुबारक बाद[8] दे सकूं ? भाई, यह तो होली का मजाक था। और मैं करूं क्या ! मेरा तो जो हाल रहा है, उसकी बू[9] अब भी बाकी है। और वह हाल क्या रहा ! देहाती जबान[10] में तो मैं यही कहूँगा:—ठाढ़े, बैठे, पड़े, उताने जब देखो तब वही ठिकाने मतलब ठिकाने से है कि उस चीज को भूलना न चाहिए। हमें ठिकाना याद रहे ! और हासिल भी उसी को हुआ है, जो अपने ठिकाने पर पहुँचने के लिए दीवाना और मजनू[11] बन गया !! इससे अच्छा नुस्खा मुझे और कोइ दिखाई नहीं पड़ता। जिसने भी तरक्की की है, उसने यही नुस्खा अपनाया है। जिसका जो कोई दीवाना बनता है, मुमकिन ही नहीं कि इसकी दीवानगी उसको सरगर्दा[12] न कर दें। भाई जब दर्द पैदा होगा, तब दवा भी मिल जावेगी। हमें तो दर्द पैदा करना है। सब रियाज़त[13] और अभ्यास-कोई मुझसे पूछे-तो बस केवल इसी के लिए है। क्या वह दिन आयेगा कि ऐसी दर्दमन्द तबीयतें मेरे भी देखने में आवें। जरूर आवेगा। कब ?—जब मेरी सी तबियत-यानी जो आप लोगों को स्थितियाँ देने की बेकरार[14] है—आप लोगों की तबीयत उतनी ही बेकरार उनको लेने के लिए बन जावे। भाई, मेरी मुहब्बत से—मुमकिन है—कुछ यह लाभ निकल आवे कि जैसे मैं अपने मालिक के लिए तड़पा हूँ, वही तड़प आप लोगों में भी पैदा हो जावे ! कहावत मशहूर है:—रांड के पांव सुहागिन लोग—लागें होइयो बहाना मुझसी !! मुझसे इसके सिवा मिलता ही क्या ? यह चीज मुझसे ले लों, और बाकी मलिके-कुल[15] देगा।

—एक अभ्यासी के पत्र से उद्धृत

८—बधाई ९—गन्ध १०—पागल ११—एक आदर्श प्रेमी १२—परेशान १३—मेहनत १४—आतुर १५—ईश्वर।

अनन्त यात्रा

[इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की अध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करके ब्रह्म–विद्या को मुख्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सुलभ करना है। एतदर्थ श्रद्धेय 'बाबू जी' के साथ एक ज्येष्ठ एवं संवेदन शील अभ्यासी के पत्र-व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन किया जा रहा है। पत्रों के केवल वही अंश प्रकाशित किए जा रहे हैं, जो अध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं। अभ्यासी का नाम आदि व्यक्ति गत बातें प्रकाशित नहीं की जा रही हैं।——— सम्पादक]

(पत्र संख्या १६)

पूज्य तथा श्रद्धेय 'श्री बाबू जी' के,

चरणों में सादर प्रणाम।

कृपा—पत्र आपका पूज्य····· ····द्वारा प्राप्त हुआ। आशीर्वाद पाकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। पूज्य·····द्वारा मालूम हुआ कि आपकी तबियत खराब हो गई थी, आशा है आप अब बिल्कुल स्वस्थ होंगे।

मैं अपनी दशा के बारे में क्या लिखूं। हर समय मन में भीतर ही भीतर इसी की इच्छा व तड़पन होती है कि कैसे जल्दी से जल्दी अपने सर्वस्व प्यारे ईश्वर को प्राप्त करूँ ? ध्यान तो एक तरफ रहा, वह तो अब कभी हृदय पर टिकता ही नहीं, बस केवल एक ही लगन व धुन है कि आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों उस जगदीश्वर में ही रम जाऊँ। 'वह' घट–घटवासी है तो भी इतने निकट 'उसके' होते हुये भी अब तक 'उसे' पा नहीं सका हृदय में दिन भर व रात्रि में आँख खुलने पर ऐसी ही अग्नि हृदय में धधकती रहती है। अब मैं और मेरापन भी कभी शायद ही आपाता हो। यह ईश्वर की कितनी अधिक कृपा है कि जब हृदय में बेचैनी बहुत बढ़ जाती है तो एक दम उत्साह आता है कि दीनों पर करुणा करने वाला ईश्वर मुझे जरूर मिलेगा और बहुत जल्दी मिलेगा।

अब तो यह जीवन 'उसी' के लिए हार चुका हूँ चाहे जैसे भी हो। जन्म–जन्मान्तरों से मन जीतता चला आता है अबकी से इस मन का इसके परिवार के साथ विनाश हो जावे। बहुत बार से यह देखता चला आरहा हूँ कि जिस हालत की आप मेरे लिए इच्छा करते हैं, आप के पत्र आने के पहले ही 'मालिक' की कृपा से मुझे वैसी ही दशा प्राप्त हो जाती है। वह कितनी शुभ घड़ी होगी जब मैं अपने ईश्वर को पाकर मस्त हो जाऊँगा। मजा यह है कि हृदय में इतनी बचैनी रहती है परन्तु आँसू एक भी नहीं आते हैं। मेरी तो जो कुछ दशा है वह सब मेरे 'मालिक' की अहेतुकी कृपा तथा आपके आशीर्वाद तथा पूज्य·····की मेहनत का ही कुछ फल है।

आपकी दीन, हीन सर्व साधन विहीना सन्तान

.....

(पत्र संख्या १७)

परम पूज्य, श्रद्धेय 'श्री' बाबूजी' के

चरणों में सादर प्रणाम !

मेरा पत्र मिला होगा। उस पत्र में मैंने जो दशा लिखी थी अब उसके विपरीत हो गई है। मैंने आपको बेचैनी के बारे में लिखा था वह अब बहुत ही कम रह गई है। जबसे मैंने आपको वह पत्र लिखा था उसके दूसरे दिन से ऐसी दशा हो गई है कि जब भी (Sitting) लू या वैसे भी दिनभर में कई बार ऐसा मालुम पड़ता है कि मैं बिल्कुल ईश्वर–मय हो गया हूँ और बड़ा फैलाव सा दीखता है। ऐसा मालुम पड़ता है कि मेरे में ही नहीं बल्कि सब जगह एक मात्र ईश्वर ही ईश्वर है। शान्ति तथा हल्कापन भी बहुत है। परम स्नेही श्री बाबूजी, मुझे ठीक दशा तो नहीं मालूम है। आप ही जाने मेरी तो आपसे बस एक ही प्रार्थना है कि किसी तरह पीछे न हटूं, आगे ही बढ़ता जाऊँ। मुझे दशा आजकल भी अच्छी लगती है। परन्तु बेचैनी इससे भी अधिक अच्छी लगती है। फिर मालिक की जैसी भी इच्छा हो, सदा सिर माथे है। कभी कभी बेचैनी की याद करके बेचैनी होने लगती है।

आपकी दीन, हीन, सर्व साधन विहीन सन्तान

.....

(पत्र संख्या १८)

'श्री बाबूजी' का उत्तर

प्रिय.....

आशीर्वाद !

तुम्हारे सब पत्र मिले–पढ़कर खुशी हुई । यह ईश्वर की कृपा है कि तुम्हारा रुजहान उस तरफ बढ़ता जाता है । तुमने जो कुछ भी लिखा है, उससे यह मालूम होता है कि तुम्हारी लय–अवस्था बढ़ रही है, मगर अभी स्थायी रूप में नहीं हुई है । हो जावेगी अगर ईश्वर ने कृपा की और तुमने अपनी मेहनत जारी रक्खी । उस काम के लिए तन्दुरुस्ती की भी जरूरत है, लिहाजा इसकी भी फिक्र रखना चाहिए । तन्दुरुस्त मैं भी नहीं हूँ । हर वक्त के दर्द ने मुझको कमजोर कर दिया है, मगर यह हालत मेरी बहुत कुछ सीखने के बाद हुई थी । ईश्वर कमजोर की आवाज ज्यादा सुनता है, मगर उसके सुनने से पेश्तर हमको उपाय और अभ्यास करना पड़ता है ताकि हम इस काबिल बन जावें कि हमारी आवाज मालिक तक पहुँच सके और इसके लिए तन्दुरुस्ती की आवश्यकता है ।

तुम्हारा शुभ चिन्तक
रामचन्द्र

(पत्र संख्या १९)

परम पूज्य तथा श्रद्धेय श्री बाबूजी को

सादर प्रणाम

कृपा आपका मिला–आशीर्वाद प्राप्त हुआ । "मालिक" ने कृपा करके अब जो दशा प्रदान की है वह लिख रहा हूँ । अब तो दिन भर भूला सा रहता हूँ । कभी कभी तो आँखें अपने आप ही बन्द होने लगती है और फिर ऐसा लगता है मानों बेहोश सा हो गया हूँ । भीतर ही भीतर मन तथा इन्द्रियों में बड़ी शिथिलता मालूम होती है और कभी कभी तो भीतर की थकान के कारण लेट रहना पड़ता है । कभी कभी बड़ा उत्साह और आनन्द आने लगता है, परन्तु कुछ ही क्षणों के लिये बेचैनी तो जाती रही परन्तु कसक

भीतर रह गई है । परम स्नेही श्री बाबूजी । चौबीसों घन्टे केवल एक ही बात मन में समर्थ रहती है कि न मैं हूँ न मेरा कुछ है, बस जो कुछ देखता सुनता हूँ एक मात्र ईश्वर ही है और क्या लिखूं । अधिकतर तो यह होता है कि मैं भी 'ईश्वर' हूँ । उदासीनता भी अधिक मात्रा में बढ़ रही है । पूज्य बाबूजी–जीवन तो सचमुच वही है कि जिसमें डार में, पात में पशु पक्षी मनुष्य तथा वस्त्र के धागे धागे में एकमात्र 'ईश्वर' ही का दर्शन हो परन्तु अब तो बार बार अपनी जगह भी 'ईश्वर' ही मालूम पड़ता है । स्वप्न के समान दिन बीत रहे हैं । यदि आपके आशीर्वाद और प्रभु की कृपा से सदा के लिए ऐसा ही हो जाता होगा निश्चय ही । आज ऐसा मालूम पड़ता है कि बार बार जबरदस्ती जाग कर आपको पत्र लिख रहा हूँ । यदि आपकी और पूज्य.....की ऐसी ही कृपा और मेहनत बनी रही तो निश्चय ही और जल्दी ही अपने एकमात्र ध्येय ईश्वर तक पहुँच जाऊँगा । आजकल तन्दुरुस्ती का ध्यान भी बहुत अधिक रखने की कोशिश करता हूँ । आपने लिखा है कि ईश्वर कमजोर की आवाज अधिक सुनता है, परन्तु बाबूजी आपको छोड़कर मेरी समझ से कमजोर मनुष्य तो धीरे से पुकार सकेगा और तन्दुरुस्त की पुकार भी जोर की होगी खैर ! मैं तो अब उसके अर्पण हो चुका हूँ—देर सबेर कभी तो वह अवश्य सुनेगा और मेरा विश्वास है कि वह जल्दी ही सुनेगा क्योंकि जब आपकी तथा पूज्य.....की आवाज भी मेरे साथ मिल जावेगी तो बहुत जोर की आवाज होगी फिर तो 'मालिक' को जल्दी सुनना ही पड़ेगा । ऐसा आशीर्वाद आप दें कि यह लय—अवस्था स्थायी हो जावे । आप यदि इच्छा भर कर देंगे तो फिर निश्चय ही यह स्थायी हो जावेगी । इस भिखारी को ऐसा ही अनुभव है । कृपा कर इस दीन की आवाज "ईश्वर" तक शीघ्र ही पहुँचाने की कृपा करिये ।

आपकी दीन हीन सर्वसाधन
विहीन सन्तान

.....

(पत्र संख्या २०)

'श्री बाबू जी' का उत्तर

प्रिय.....

आशीर्वाद !

पत्र मिला, पढ़कर खुशी हुई। तुम्हारी हालत उन्नति पर है, मालिक का धन्यवाद है। कोशिश से सब कुछ हो जाता है और मैं समझता हूँ ईश्वर से मिलना बहुत आसान है, सिर्फ उस तरफ दिल का रुजहान करने की जरूरत है और यह बात मैं हर एक से कहता हूँ। लय—अवस्था तुम्हारी बढ़ रही है। ईश्वर ने कृपा की और तुम्हारी कोशिश जारी रही तो स्थायी रूप में भी हो जावेगी इसमें उन्नति का कोई ओर छोर नहीं। अगर मनुष्य सबसे ऊँची दशा में आ जावे और वह ऐसी दशा हो कि जब से दुनियां पैदा हुई तब से और किसी को यह बात नसीब न हुई हो तो भी उसके बाद बहुत कुछ जानने को रह जावेगा। न मालूम इस जमाने में मनुष्य अपने आप को पूर्ण कैसे समझ लेता है। पूर्णता सिर्फ ईश्वर में है। इन लोगों की मिशाल ऐसी होती है जैसे किसी शख्स को एक हल्दी की गांठ मिल जावे और वह अपने आपको पंसारी समझ बैठे। "नेति नेति" वेदों ने कहा है। एक बात जरूर ध्यान में रहना चाहिए कि किसी शख्स से ऐसे शब्द न कहे जावें जो अगर वैसे ही हो जायँ तो उससे सबको तकलीफ पहुँचे।

तुम्हारा शुभ चिन्तक
रामचन्द्र

(क्रमशः)

(—:०:—)

प्रीति की रीति

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी)

"दिल में दर्द पैदा करो बेटी।"
"यह कैसे हो बाबा ?"
"बुद्धि में पागलपन उत्पन्न होने से।"
"कैसे करूं बाबा ! पागल होना क्या अपने हाथ में है ?"

बाबा मुस्करा उठे।

"बेटी सच है पागलपन उत्पन्न होना, यह अपने हाथ का नहीं। यह तो किसी की प्रीति का Reaction (प्रतिफल) होता है जो भाग्यवानों को ही प्राप्त होता है।"

"परन्तु बाबा प्रीति करना तो बुरी बात है। इसमें तो रहा सहा अपना चैन भी चला जाता है। किसी ने कहा भी है—प्रीति करि काहू सुख न लह्यो"

बाबा बड़बड़ाये "हां, प्रीति करना सचमुच ही बुरा है। किन्तु प्रीति हो जाना अच्छा है। चैन चला जाना अच्छा है बेटी किन्तु चैन खोना अच्छाई नहीं।"

"तुम तो उल्टी उल्टी बातें बनाते हो बाबा। भला सीधी सी बात करो न !"

"सीधी सी बात है बेटी, दिल में दर्द पैदा करो।"
"तो बाबा दर्द तो तब पैदा हो जब चोट लगे। बिना चोट के कहीं दर्द होता है बाबा।"

"चोट ! चोट तो बेटी, प्रतिक्षण लग रही है। जरा आँख खोलकर देखो न !"

"कहाँ बाबा ? चोट कहाँ है मुझे तो दिखाई नहीं पड़ती; कहीं निशान

भी तो नहो है !"

"निशान है बेटी, जरा आंख खोलकर भीतर देखो । सारा हृदय तो तो निशानों (संस्कारों) से रंगा पड़ा है ।"

न जाने क्यों अब बाबा की बाणी सुन सुनकर बेटी का रंग बदल रहा था । आँखें कुछ झपकने पर भी उसे कुछ दिखलाई पड़ रहा था । वह हृदय में हल्की टीस सी अनुभव कर रही थी । पता नहीं बाबा की बाणी में से ही टीस सी निकल कर उसके हृदय में कुछ दर्द पैदा कर रही थी । वह हृदय थामे बैठी रही । फिर एकाएक विचार आया कि कहीं उसे प्रीति तो नहीं हुई जा रही है । न जाने क्यों प्रीति से उसके हृदय में एक अनोखा भय जो था । वह बड़बड़ाई । 'प्रीति तो मैं नहीं करूँगी'

* * * *

बाबा चले गये । वह भी घर गई । नित्य का जीवन क्रम सुचारू रूप से चलने लगा ।

वह अविवाहित थी ।

क्यों ?

उसे प्रीति जो नहीं करनी थी । कुछ भय था । दिन भर काम काज करती खाना बनाती, नाश्ता तैयार करती । माता, पिता प्रसन्न थे । भाई, बहिन, संगी साथिनों के साथ मस्त सी रहती । हँसते, खेलते खाते दिन व्यतीत हो रहे थे । भाई, बहिनों में क्रीकेट होता, वह भी फील्डिङ्ग करती । लुका, छिप ऊअर तथा कबड्डी आदि सब खेलों में सबके संग रहती । पूजा में अवश्य उसकी बचपन से रुचि थी, परन्तु प्रीति में नहीं । ठाकुरजी पूजती; घंटों आरती, पूजा, अर्चन, वंदना में व्यतीत करती । रामायण, तथा गीता उसके प्रिय ग्रँथ थे । पाठ होते, कीर्त्तन होते वह भी सब में भाग लेती । आपस में भाई, बहिनों की लड़ाई में भी उसे शौक था किन्तु स्थाई रखने का नहीं । नौकरों के बच्चों से भी दुलार था तभी तो वे यह रास्ता देखा करते कि कब बिटिया कहीं चले तो उन्हें पैसे मिलें । उसकी प्रकृति तो

क्या थी, तमाशा थी । कभी गम्भीर, कभी आनन्दमयी हाँ मात्रा में कमी और अधिकता अवश्य थी । गायन–वादन में भी चाव था । किन्तु यह सब.....!

बाबा न जाने कहाँ से आकर उसके हृदय में कुछ कर गया । तभी तो बेचारी न जाने क्यों अब बहुधा एकान्त में हृदय पकड़ कर रह जाती । कदाचित वह उसके हृदय में कहीं चोट तो नहीं कर गया ? किन्तु ऊपर से तो कुछ दीखता न था जो बेचारी कुछ औषधि लगाकर, कुछ लेप ही लगाकर ठीक कर लेती । यही क्रम चल रहा था कि खेलती, खाती कामकाज सब करती किन्तु अब व्यस्त नहीं होती क्यों कि टीसन उसका ध्यान उचाट कर देती और बीच बीच में भाग कर कमरे में हाय कर आती । और उस चोट को पालने के ही लिये दो टाई घन्टे दर्द के ध्यान में भी बैठ आती !

क्रमशः बरबसता बढ़ी क्यों कि चोट में अब दर्द जो होने लगा था । और दर्द भी ऐसा कि दवा करने से बढ़ता और दवा भी बेचारी के पास क्या थी ? वही ध्यान जो कम से कम उस समय तो चैन दे ही देता ।

* * * *

बाबा भी अनोखा था । शरीर क्या था मानों ढाँचा–मात्र था । स्वास्थ्य–रक्षा की पुस्तक पढ़ने वालों के लिये उसका एक एक अंग सहायक हो सकता था क्यों कि एक एक हड्डी सरलता से गिनी जा सकती थी । माँस की जगह तो मानों ईश्वरीय–ज्ञान कूट कूट कर भरा हुआ था नेत्र क्या थे; मानों ध्यान–रत रहते २ अपना अस्तित्त्व ही भूल चुके थे । सुरत कहीं दूर इस संसार से परे अंतरिक्ष को भी भेद कर न जाने कहां जा बसी थी । ऐसा लगता था कि वह ससार में रहते हुये भी उससे परे ही कहीं बिचरण करता । कहने को वह भू पर था किन्तु यथार्थ तो यह था कि भू उसके आश्रित थी और वह भूपति था । उसके आते ही वातावरण में वह महक बरस जाती जिसे सूँघने के लिये सम्भव है बड़े बड़े ऋषि, महात्मा तड़पते ही चले गये हों उसके पास बैठने पर सब दुःख, दर्द भूलकर

मानव अपने से ऊपर बहुत ऊपर पहुँच कर निर्मल रस का रसास्वादन कर पाता था। किन्तु इसे देखे कौन ? पहचाने कौन ? जब सब अपने में ही व्यस्त थे।

और वह ?

वह तो कहता था:-"हँसी, खेले नहिं पाइयां, जिन पाया तिन रोय।"

फिर कौन समझता।

❀ ❀ ❀ ❀

एक दिन न जाने कहाँ से घूमता फिरता फिर आ गया बाबा और उसी के द्वार पर आवाज लगाई "बिटिया"।

वह दौड़ी। प्रणाम किया।
"बैठो न बाबा !"

बाबा बैठ गये। उन्हें उसके घर में भी अब कुछ सुगन्ध सी लगने लगी थी। वह महक जो उन्हें प्यारी थी।

"भूख लगी है माता जी" बाबा बोल उठे।

माता दौड़ी क्योंकि न जाने कैसे बाबा के प्रति उनका वात्सल्य जो उमड़ पड़ा था। कुछ नहीं साधारण सा ही भोजन पाया 'उन्होंने' किन्तु बड़ी प्रसन्नता से और एक एक वस्तु को बड़े उल्लास से, सराह कर। फिर बोले, "क्या दर्द होता है बेटी ?"

"कहां बाबा ?" दुनिया के नेत्रों में वह धूल झोंक सकती थी किन्तु अपने 'बाबा' के नहीं। उसके नेत्र झुक गये। अपराधी थे बेचारे न। बाबा भी समझ गये। प्रसन्नता से उनका उद्दीप्त मुख और आलोकित हो उठा।

"बाबा का कुछ काम करेगी बेटी ?"

"हां, कहिये न बाबा !" वह नाहीं नहीं कर सकती क्योंकि बाबा उसे न जाने क्यों बहुत अच्छे लगते थे और उसे ऐसा लगा कि

मानों बोलने के साथ ही साथ बाबा ने काम के लिए उसे शक्ति प्रदान कर दी थी। फिर भी उसने कहा:—
"किन्तु मुझ में शक्ति कहाँ ?"
"क्या काम के लिए शक्ति चाहिए बेटी ? जरा सोचो। केवल लगन चाहिए।"
"अच्छा, तो लगन फिर कहाँ से पाऊँ यह तो बताओ ?"
"विचार करो बेटी तो वह तुम्हारे समीप हृदय में ही मिलेगी।"
"देख लिया बाबा। समझ लिया। अब जो कहिये वह मुझ से दूर नहीं।"
"और प्रीति ?"
वह लजा गई। उसे स्मरण आया 'मैं प्रीति नहीं करूँगी'-उसने कहा था। "कहाँ बाबा, मैं भला प्रीति क्या जानूँ।" बाबा मुस्कराये। "अब होशियार हो चली है बिटिया मेरी।" वह बड़बड़ाये:—

"ऐसी प्रीति सराहिये जा में ना पहिचान,
रही प्रीति की प्रीति वह और नहीं कुछ हानि।"

❀ ❀ ❀ ❀

"क्या चन चला गया बेटी ?"
वह तुनुक कर बोली, "हाँ, चला गया बाबा ! और मिल भी गया बाबा !"
"सो कैसे ?"
उसके नेत्र बाबा के मुख पर टिके थे और बाबा विभोर थे।
'अनोखी प्रीति की रीति थी।'
—वह क्या समझती और कैसे समझाती, बेचारी !

॥ भजन ॥

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै खन बिजुली चमकै, लहर उठै शोभा बरनि न जाय ॥१॥
सुन्न महल में अमृत बरसै, प्रेम अनन्द ह्वै साधु नहाय ॥२॥
खुली केवरिया मिटी अँधेरिया, धन सतगुरु जिन दिया लखाया ॥३॥
धरमदास विनवैं कर जोरे, सतगुरु चरन में रहा समाय ॥४॥

—धरमदास

पतंग और मानव

(डा० विमला पाठक एम० ए०, पी० एच० डी०)

मानव और पतंग—एक ही ईश्वर के दो अंश फिर भी कितना अन्तर। एक है अति क्षुद्र, अपने ही सुख—दुख में सीमित, संसार के बौद्धिक, सांस्कृतिक विकासों से अनभिज्ञ एक कीट और दूसरा है वह जिसे सर्वज्ञाता होने का अभिमान है, जो अपने को ईश्वर की कृतियों में सर्वोत्तम स्थान पाने का अधिकारी मानता है। उसे संसार के विकास और पतन का ज्ञान है, वह अपने साथ ही साथ प्रकृति की रागात्मक प्रवृत्तियों से भी परिचित है, यदि वह चाहे तो एक क्षण में ससार को निमूल कर सकता है, ध्वस्त कर सकता है—इसका उसे गर्व है जो निमूल भी नहीं। इतना होते हुए भी—मानव उस अति क्षुद्र पतंगे से भी कितना छोटा है जो हँसते हँसते अपने प्रियतम पर प्राणों को भी न्यौछावर कर देता है।

क्षीण से क्षीण प्रकाश की ओर दौड़ने वाले अति क्षुद्र कीट कितना महान है, और उसके सम्मुख खड़ा हुआ विशाल मनुष्य कितना क्षुद्र! संसार को देखने और समझने वाला मनुष्य 'प्रकाश' की महत्ता से अनभिज्ञ है। 'प्रकाश'—जो चारों ओर फैले अन्धकार को क्षण भर में छिन्न—भिन्न कर देता है, क्या उसके महत्व को नापा जा सकता है? घोर अन्धकारमयी रात्रि में भी वे अति क्षुद्र दीखने वाले टिम-टिमाते तारागण भी अपनी शक्ति भर मानव को सहायता देने का प्रयास करते हैं। अनन्त काल से उनसे लाभ पाने वाले मनुष्य ने कभी उस ओर ध्यान न दिया, केवल उसे प्रकृति का नियम मानकर। मानव से बड़ा वह पतंग है जिसने प्रकाश को पहचान लिया है; और उसकी क्षीणतम रेखा पा उस ओर उड़ चलता है। वह उड़ता है कि उसका एक डैना टूट जाता है, छटपटाता है, तन डगमगाता है, परन्तु वह सच्चा साधक रुकना नहीं जानता, थक कर हारे पथिक की तरह बैठना नहीं जानता; अपनी असह्य पीड़ा को विस्मृत कर आगे बढ़ना ही जानता है। इस व्याकुलता का कारण उसका प्रकाश के

प्रति असीम 'प्रेम' है। प्रेम का अर्थ अत्यधिक व्यापक होने पर भी वह कितना नैसर्गिक है कि भोला अज्ञानी कीट भी उसे गुन लेता है।

मानव ज्ञान और बुद्धि में बड़ा होकर भी प्रेम और प्रकाश की महत्ता समझने में असमर्थ है। दीपक का प्रकाश भोले पतंग को भी शान्ति देता है, किन्तु मानव इस क्षेत्र में दया का पात्र है-अपने अज्ञान के कारण। मानव और उसके 'प्रकाश' के मध्य केवल एक पर्दा है जो दोनो को एक दूसरे से पृथक करता है। इस वास्तविकता को जानते हुये भी मनुष्य इस आवरण को हटाकर आगे बढ़ना नहीं जानता। वह इस वास्तविकता से अपरिचित रहना चाहता है कि इस पर्दे को हटाते ही उसके डगमगाते चरणों को मार्ग मिल जायेगा। और यह पर्दा है मोह का, तृषा का और इसी प्रकार अन्य मायावी बधनों का। अभी वह जिस अँधेरे में चारों ओर टकराता है और कहीं भी पहुँच नहीं पाता, उस अँधेरे कमरे में एक साथ अनेक व्यक्ति आपस में टकराते हैं, कलह करते हैं, अधिक से अधिक तृष्णा को मुट्ठी में बांध, दूसरे से लुटने के भय से आतंकित होते हुये परन्तु साथ ही दूसरों को लूटने की भावना को साथ लिए, वहीं उसी में चक्कर लगाते हैं। उसमें से कोई एक युगों में 'प्रकाश' का नाम लेता है, और उसकी ओर अन्य इंगित कर उसकी मूर्खता पर कहकहे लगाते हैं। कुछ तो इसी कहकहे में ही अपने को खो देते हैं। किन्तु युगों में कोई विरला अन्ततः इस पर्दे को चीर बाहर आ ही जाता है, और दूसरों को बचाने का प्रयास करता है। किन्तु वहाँ किसी को सुनने का अवकाश नहीं। इसी महान विभूति को हम 'गुरु' कहते हैं जो स्वयं प्रकाश में प्रविष्ट हो प्रकाश रूप ही हो जाता है। जब तक हम उस परम आत्मा का आँचल नहीं थामते, हम भी दूसरों के समान इस अंधकार की कोठरी में जन्म—जन्मान्तर लड़ते भिड़ते जीवन शेष करते रहेंगे।

'प्रकाश' की ओर मानव की इस उपेक्षा का कारण है—हृदय में प्रेम का अभाव! प्रेम वह ज्योति है जो मानव को साधारण स्तर से ऊपर उठाती है, और चरम आनन्द, परम शान्ति प्रदान करती है। इस प्रेम के लिए गुरु के सहारे उस पात्र को जानना आवश्यक है जिसे हम 'परमात्मा' कहते हैं, जो सृष्टि का नियन्ता है। बिना

किसी का परिचय प्राप्त किये उससे प्रेम और उसकी सेवा असम्भव है। जैसा Bible में भी कहा गया है–To know Him, to love Him and then to Serve him here on earth and after to see and rejoice with him forever in Heaven." ऐसी पहचान आवश्यक है। पुस्तक इसमें सहायक है किन्तु उसके भी पूर्व उस पुस्तक के अक्षरों का ज्ञान गुरु बिना कौन करवा सकता है। उसको जानकर अपना सर्वस्व अर्पित कर देना ही प्रेम है फिर चाहे कोई उसकी कितनी ही निन्दा क्यों न करे। बिना आत्म समर्पण के न तो कोई उसे पा सका है और न ही उससे प्राप्त अभय को। अतः उस पतंगे को आदर्श मानकर चलने वाला उस पतंगे से बढ़कर सुख पाता है। पतंगा जलता है किन्तु केवल मृत्यु को वरण करने के लिये। फिर भी उसकी प्रीति अमर है। उसमें उसकी शान्ति है, अन्यथा वह जलकर अपने जीवन को क्यों समाप्त करे। उससे भी अधिक पाने वाला मनुष्य है। प्रेम से उसे अमरत्व प्राप्त होता है, वह जीवन के गन्तव्य पर पहुँच कर पुनः सांसारिक क्लेश भोगने नहीं आता।

प्रत्येक साधना उपर्युक्त प्रेम को ही महत्व देती है। कृष्ण की गोपियाँ उस प्रेम में विभोर होते हुये अपने प्रियतम में लीन हो गई अपना सर्वस्व लुटा कर। दूसरी ओर कबीर की 'आत्मा बहुरिया' ने 'राम भरतार' को इसी सहारे पा लिया, अपने 'पलकों की चिक डाल कर नैनों की कोठरी में' जगते और सोते अपने से दूर न होने दिया। मरण-वरण की चिन्ता छोड़ने वाला व्यक्ति ही अपने प्रियतम को सुधि में लीन होकर चिर शान्ति पाता है पतंगे की तरह।

माटी के दीपक में और 'सत्य' के 'प्रदीप' में भी समता होते हुये कितना अन्तर है। पतंग की भावना में कहीं भी प्रेम का अभाव नहीं रहता इसीलिये वह ज्योति के आवाहन को समझ लेता है। फिर भी स्मरण रहे वह दीपक आगे नहीं बढ़ता। इसके विपरीत 'सत्य' एक निश्चेष्ट ज्योति नहीं। वह साधक को एक पग आगे बढ़ते देख व्याकुल हो उठता है और उसे सहारा देने के लिये स्वयं दस पग आगे बढ़ती है। यदि यह सत्य न होता तो त्रिलोकीनाथ कृष्ण द्रोपदी की टेर पर 'बजाज बन' उस की लाज न बचाते,

और न ही मर्यादा पुरुषोत्तम राम शबरी के जूठे बेरों में सुधा का स्वाद पाते। जब मानव और पतंग में असीम अन्तर है तो मानव की मानवता अपने को 'मानव' बनाने में ही है। यह मानवत्व इस क्षेत्र में ही चरम सिद्धि है क्यों कि मानव जीवन का लक्ष्य है—सच्चिदानन्द भगवान में लीन हो जाना जिसकी सम्भावना मानव की शान्ति प्राप्ति में है। और यह शान्ति बिना पतंग के निर्मल, एकांगी प्रेम के असम्भव है।

—:❀❀❀:—

श्रद्धा का फूल

(दिवंगत पंडित रामेश्वर प्रसाद मिश्र)

आतमा ने हालते—परमातमा जानी न थी
नाथ, जब तक आपकी मुझपर मेहरबानी न थी ॥१॥
आपकी तालीम से पहले तबीयत में मेरी
कौन नादानी न थी और कौन शैतानी न थी ॥२॥
मैं तलाशे-राहे-हक़[1] में मुद्दतों हैराँ फिरा
आप जब रहबर[2] बने तब कुछ परेशानी न थी ॥३॥
दामने—अस्मत[3] गुनाहों से मेरा नापाक था
पाक—कर्दा आप की जब पाक दामानी न थी ॥४॥
नाख़ुदा[4] बन कर बचा ली आप ने मेरी ये नाव
जिसकी इस बहरे-जहाँ[5] में कुछ निगहबानी न थी ॥५॥
है समर्पित श्री चरण पर यह हृदय-श्रद्धा का फूल
इस से बेहतर पास कोई चीज़ लासानी[6] न थी ॥६॥

—:❀:—

१–सत्य के मार्ग की खोज २–पथ–प्रदर्शक ३–कर्म का आँचल ४–केवट ५–संसार–सागर ६–अद्वितीय।

'अहं ब्रह्मास्मि'

(श्री रामदास चतुर्वेदी, बी० ए० एल० एल० बी०)

आज-कल कुछ लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' जपा और रटा करते हैं। ये लोग स्वयं को ब्रह्म बतलाया करते हैं क्योंकि 'अह ब्रह्मास्मि' शब्दों का अर्थ है कि 'मैं ब्रह्म हूं'। किन्तु वास्तव में 'अहं ब्रह्मास्मि' न रटने की चीज है और न माला लेकर जपने की।

दूसरे लोग तर्क शास्त्र द्वारा 'अहं ब्रह्मास्मि' सिद्धि कर लेते हैं, और इस बात का प्रचार किया करते हैं। ऐसे सज्जन पहली तरह के लोगों से अच्छे अवश्य हैं, परन्तु किसी बात को दिमाग से तर्कों द्वारा सिद्ध कर लेना और बात है और उस सत्य का अनुभव कर लेना और बात है। पाश्चात्य दार्शनिक केवल दिमागी तर्क वितर्क द्वारा ही सत्य की खोज करते हैं, और दर्शन ग्रंथ लिख डालते हैं। केवल तर्क द्वारा प्रतिष्ठित होने के कारण बाद में कोई दूसरा दार्शनिक उसका खण्डन कर डालता है। ऋषियों की शैली यह थी कि वे अध्यात्मिक जीवन बिताते थे, उपासना करते थे और अपने अन्तःकरण को शुद्ध करते थे। तत्पश्चात् जो कुछ भी उन को अनुभव होते थे उन अनुभवों को विचार और तर्क से सिद्ध करते थे। हमारे पुराने दर्शन शास्त्र का इसी प्रकार निर्माण हुआ था। आधुनिक काल में कुछ भारतीय सज्जन भी विदेशियों की नक़ल करने लगे हैं और इस कारण कभी कोई बात उनकी ठीक होती है, और कोई बात उनकी गलत भी हो जाती है। विद्वान तो यह सब होते ही हैं। इन में से कोई २ ऐसे भी होते हैं कि प्रथम बार उनकी बात सुनने से उस समय तो ठीक ही मालूम होती है, परंतु बाद में विचार करने पर वह निश्चित रूप से गलत सिद्ध हो जाती है। कोई २ सज्जन इनमें से अहं अधिक होने के कारण ज़िद्दी या हठी भी होते हैं, कुछ साम्प्रदायिक विद्वान् और कुछ केवल संस्कृत भाषा विद्वान् भी ऐसे ही लोग होते हैं। उन्हें न सत्य की खोज से मतलब

लब, न सत्य के प्रेम से वास्ता। उन्हें तो बस दूसरों को तर्क या शास्त्रार्थ में हरा देने से मतलब होता है।

हमारे धार्मिक साहित्य को ठीक २ अनुभवी लोग ही समझ सकते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि ब्रह्म-विद्या अनुभवी विद्या है, वह साधारण विद्या नहीं है। ब्रम्ह-विद्या में योगी ही प्रवेश कर सकता है। इसके अतिरिक्त बिना ईश्वर की सहायता के भी ब्रम्ह-विद्या की प्राप्ति असम्भव है। जगत में बिना ईश्वर-प्रेम के बिना सत्य के प्रेम के, बिना उसके सच्चे भक्तों के प्रेम के, बिना सद्गुणों के प्रेम के और बिना सद्गुरु की कृपा-युक्त सहायता के ब्रम्ह-विद्या की प्राप्ति नितान्त असम्भव है। यह सब होते हुये भी मेरा यह मतलब नहीं है कि पाश्चात्य दर्शन शास्त्र की कोई उपयोगिता ही नहीं है, अथवा भारतीय आधुनिक दर्शन-शास्त्र वेत्ताओं से देश का कोई उपकार नहीं हो रहा है।

'अहं ब्रम्हास्मि' तो ज्ञान सम्बन्धी प्रथम श्रेणी है। सूफ़ियों ने इसको 'अनलहक़' कहा ईशुमसीह ने इस का 'I and father are one कहा (अर्थात मैं और मेरे पिता एक हैं। वे परमात्मा को पिता कहा करते थे।) इस श्रेणी को प्राप्त करने वाले ज्ञानियों ने इस जगत में बड़े २ काम किये हैं, और वे यश के भागी हुये हैं। बात यह अवश्य थी कि इस दशा में वे दीर्घ काल तक रहे थे और उन्हों ने स्वयं को इस दशा के अनुसार बना डाला था। जो वास्तव में ज्ञानी है वह केवल ज्ञान सम्बन्धी विचारों के जानने वालों से बहुत ही ऊँचा व्यक्ति होता है। सही तो यह है कि ज्ञानी को 'व्यक्ति' व्यवहार में तो कहा जायगा, परंतु, आन्तरिक में उसको व्यक्तित्व से ऊपर उठा होना चाहिए। किताबी ज्ञान और अनुभवी ज्ञान में पृथिवी और आकाश का अन्तर होता है। कुछ लोग आधुनिक काल में सब ज्ञानियों को बराबर समझते हैं, परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। हर कक्षा में अनेक विद्यार्थी होते हैं, परंतु उनकी योग्यता में भेद होता है। यही बात ज्ञानियों के सम्बन्ध में भी है।

सच्ची 'अहं ब्रह्मास्मि' नामी अन्तःकरण की दशा अन्तर के शुद्ध हो जाने पर बिना उस ओर अपना ख्याल ले गये स्वयं उपस्थित हो जाती है। अभ्यासी को अनायास ही उसका अनुभव होने लगता है।

इस श्रेणी में अभ्यासी को इस सत्य का पता लग जाता है कि वह कोई व्यक्ति विशेष नहीं है, किन्तु ब्रह्म है, सर्व है, प्रेम-रूप है, कृपा तथा दया आदि का रूप है। अर्थात् उसमें अनेकानेक ईश्वरी सद्-गुण भर जाते हैं, और उसका व्यक्तित्व फैल कर विश्व-रूप बन जाता है। एक से वह सर्व हो जाता है, उसको अपनी ही आत्मा सबकी आत्मा भासने लगती है। उसका अहं अब विस्तृत हो गया है, परन्तु है अवश्य। वह अभी अहं-रहित नहीं है। इसी लिए इस स्थिति को अन्तिम दशामान बैठना भूल है।

जब हमारा अन्तःकरण इस स्थिति पर पहुँच जाये तो हमको इसी स्थिति के अनुकूल अपने सुधार पर भी ध्यान देना चाहिये और अपना उचित सुधार करते हुए अध्यात्मिकता में आगे बढ़ना चाहिए।

इस प्रकार के सुधार के विषय में संक्षेप में इतना ही पर्याप्त है कि प्रार्थना करते रहना चाहिए और भक्ति बढ़ाते रहना चाहिए।

साधक को चाहिए कि self-denial बराबर करता रहे। उसको self (अहं) को शून्य बनाने का प्रयत्न निश्चय ही करते रहना चाहिए क्योंकि उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' में से 'अह' और 'अस्मि' को तो निकालना है ही। जितना जिसमें अहं कम होगा उतनी ही उस में भक्ति और आध्यात्मिकता की वृद्धि होगी।

अहंता के नाश के लिए साधन रूप में साधक को प्रार्थना की महत्ता समझे रहना चाहिए। प्रार्थना करने से दीनता आ जाती है, और दीनता से बढ़कर कोई अन्य वस्तु अहंता या खुदी नाशक नहीं हो सकती। प्रार्थना ईश्वर को प्रसन्नता का कारण बन जाती है, और उसकी कृपालुता तथा दयालुता को साधक की ओर खींच लेती है। हमारे मिशन का नियम नं० २ इस सम्बन्ध में हमको बतलाता है कि:—

'पूजा प्रार्थना से आरम्भ की जावे, प्रार्थना आत्मिक उन्नति के लिए होना चाहिए, और इस तरह पर की जावे कि हृदय प्रेम से भर आवे'।

एक नियम की विस्तृत व्याख्या श्रद्धेय बाबू जी ने उर्दू की पुस्तक 'सहज—मार्ग के दस उसूलों की शरह' में दिया है।

अनन्त प्रश्न

(श्रीमती कान्ति श्रीवास्तव)

(१)

दो साँसों की लीला ललाम !
किस के इंगित पर सरसिज ने सहसा निज सौरभ दी बिखरा ?
ऊषा का बासन्ती सिंगार प्राची के आंगन में निखरा !
तृण की हरियाली बन बिहँसा किस का असीम अकलुष दुलार ?
किस का सपना सोते शिशु के अधरों पर स्मिति बन उतरा ?

अम्बर के आदि-रहस्य, तुम्हें, जड़ धरती के शत शत प्रणाम !
दो साँसों की लीला ललाम !

(२)

निस्सीम मौन किस की माया ?
उड़ गया अचानक किधर कुसुम—काया का स्पन्दन—पराग ?
निर्मम तम ने लूटा अबला सन्ध्या का सिन्दूरी सुहाग !
धू धू करती प्रज्वलित हुई अन्तिम शय्या अरमानों की,
बुझती जो जल ज्वाला में ही, बतला दे कोई, कौन आग ?

नीले परदे पर तम—प्रकाश-मय नाच रही किस की छाया ?
निस्सीम मौन, तेरी माया।

(३)

प्रिय, नील गगन के पार कौन ?
किस ज्योति—पुञ्ज की प्रखर रश्मि उतरी अनन्त का वक्ष चीर ?
किस अतल उदधि की आर्द्र श्वास दौड़ी उस से मिलने अधीर ?
किस कलाकार की तूली से खिंच गया चित्र यह सतरङ्गी ?
किस अन्तरिक्ष में इसे छिपा झर पड़ा किसी का नयन—नीर ?

क्यों नील-दृष्टि की सीमा-के उस पार अपरिमित एक मौन ?
प्रिय नील गगन के पार कौन ?

जीवन का ध्येय

(श्री ईश्वर सहाय जी)

कोई भी कार्य करने के पहले सर्व प्रथम हमारे मन में उस कार्य के करने का संकल्प बनता है, और उस संकल्प के अन्तस्तल में हमारा निश्चित लक्ष्य छिपा रहता है। जितनी दृढ़ता से हम अपने लक्ष्य से चिपके रहेंगे हमारी इच्छा उतनी ही तीव्र एवं सकल्प उतना ही दृढ़ होता जायगा और हमारे संकल्प के अनुसार हमारे प्रयत्न अधिकाधिक क्रियाशील हो उठेंगे।

कल्पना कीजिये हमें एक यात्रा करनी है। अब इस यात्रा का गन्तव्य स्थान जितना दृढ़ और निश्चित है, हमारा यात्रा करने का संकल्प भी उतना ही दृढ़ और क्रियाशील होगा। इस प्रकार सारी सामग्री जिसकी हमें इस सकल्प-पूर्ति के लिये आवश्यकता होगी, अनायास एकत्र होने लगेगी। यात्रा-संकल्प के अन्तस्तल में हमारा गन्तव्य स्थान निरन्तर वर्तमान है। यही गन्तव्य स्थान ही हमारा ध्येय होता है। इस प्रकार हमारा ध्येय और कुछ नहीं, केवल वह अन्तिम स्थान जहाँ हमें पहुँचना है, वह अन्तिम बिन्दु जिसे हमें प्राप्त करना है। अतएव जिसका गन्तव्य स्थान या लक्ष्य-बिन्दु जितना ही स्पष्ट और निश्चित है उसकी यात्रा भी उतनी ही सफल और सुखद होगी। जिसका गन्तव्य स्थान अनिर्दिष्ट या लक्ष्य-बिन्दु अस्पष्ट होगा उसका संकल्प क्षीण, यात्रा असफल और वह स्वय पथ भ्रष्ट होकर भटकता फिरेगा।

ठीक यही दशा जीवन-यात्रा की भी होती है। जब तक हम अपना कोई सुनिर्दिष्ट लक्ष्य नहीं रखते हमारा मन संकल्प विकल्प के झूले पर झूलता रहता है। हमारी छोटी २ इच्छायें लघु लहरियों सी उठती और विलीन होती रहती है। हमारी जीवन-नौका इस महासागर में बड़ी बड़ी लहरों के थपेड़ों और तूफानों के झोंकों से

डगमगाती चली जाती है। लहरों के उतार चढ़ाव में डूबती उतराती अपनी रक्षा के लिए चिंतित, शंकित सी जीवन के इस अथाह समुद्र में बराबर गोते खाती रहती है। चारों ओर समुद्र ही समुद्र है। न कहीं किनारा है और न ठिकाना ही। यात्री को भी विश्राम नहीं। अन्त में वह समय भी आता है, जब अनेकानेक घटनाओं को, विषम स्थितियों को पार कर हमारी जीवन नौका मौत की भयानक चट्टान से टकराती है और चूर्ण विचूर्ण होकर नष्ट हो जाती है। उसके नष्ट होने से हमें महान कष्ट होता है। किन्तु हम यह सब सहने को विवश हैं। अपने साथियों को रोते-कलपते छोड़कर हम दूसरी नौका की चिन्ता करते हैं; और अभी पहली नौका के प्रभाव (संस्कार) से मुक्त भी न हुए थे कि दूसरी नौका की भी वही दशा हुई। इस प्रकार पहली के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी लाखों करोड़ों नौकाओं पर बैठकर अपनी यात्रा पूरी नहीं कर पाते। करोड़ों कष्ट सहते हैं, और चाहते हैं कि इस दुखमय यात्रा से मुक्ति मिल जाये। फिर भी हम इस भवसागर में भटकते ही रहते हैं। हमें इस दुख से छुटकारा नहीं मिलता। कारण, हमारा एक निश्चित ध्येय नहीं होता। अब प्रश्न है कि हमारा ध्येय क्या हो? किस ध्येय को सामने रखकर हम आसानी से इस दुख से छुटकारा पा सकते हैं?

उत्तर बहुत ही सरल और स्पष्ट है। प्राणी जन्म से ही एक ध्येय लेकर आता है, वह है परम सुख की प्राप्ति। इस सुख प्राप्ति के लिये वह जन्म से ही प्रयत्नशील रहता है, किन्तु इसके स्वाद से अनभिज्ञ होने के कारण जहाँ कहीं इसकी झलक दिखाई दी, वहीं वह समझता है कि मैंने इसे प्राप्त कर लिया। इस प्रकार केवल ऐन्द्रिय या वैषयिक सुखों को प्राप्त करने में ही वह अपनी सफलता समझता है; यद्यपि वैषयिक सुख सदैव दुख से परिपूर्ण हैं, क्योंकि सुख दुख मन की दशा है जो कि मन में सदैव वर्तमान रहती है। यह बात दूसरी है कि एक की स्थिति में उस दशा की अधिकता के कारण हम दूसरी दशा का अनुभव न कर सकें, किन्तु रहती दोनों ही दशायें हैं। इसी लिये सुख में आशंका और दुख में आशा परस्पर प्रतिकूल दशायें होते हुए भी पाई तो बराबर ही जाती हैं। फिर भी प्राणी इसे समझ नहीं पाता और इन इन्द्रिय-सुखों के उपकरण या साधन जुटाने में जन्म से ही लग जाता है। इसके लिये उसे धन

की आवश्यकता होती है। तब वह पूर्ण इच्छा शक्ति से धन इकट्ठा करने में लग जाता है, और धन प्राप्ति अपना लक्ष्य मानकर इसी में अपने जीवन की सफलता समझता है। किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् वह अपनी भूल अनुभव करता है। और समय इतना आगे निकल चुका होता है कि उसे भूल-सुधार का अवसर ही नहीं मिलता। अतः वह पुनः जन्म लेता है और पुनः वही क्रम प्रारम्भ हो जाता है।

यदि जीवन में धन ही सुख प्राप्ति का साधन होता, तो संसार में सभी धनवान सुखी होते किन्तु बात ऐसी है नहीं। एक बार अमेरिका के एक धनाढ्य पुरुष से किसी ने उसके धन की गणना पूछी। उसने उत्तर दिया यदि प्रति सेकेन्ड एक डालर मैं समुद्र में फेंकता रहूँ तो १५० वर्ष लगेंगे। प्रश्न कर्ता ने अत्यन्त आश्चर्य चकित होते हुए कहा, तब तो आप बड़े सुखी होंगे। उसने कहा बिल्कुल नहीं, मुझसे कहीं अधिक सुखी वह मजदूर है जो दिन भर के कड़े परिश्रम के पश्चात् ईंट की तकिया लगाकर कंकड़ों पर निश्चिन्त होकर सोता है। आशय यह है कि सुख और शान्ति का सम्बन्ध शरीर से नहीं है। नहीं तो शारीरिक उपकरणों से अपने को सभी धनवान सुखी बना लेते। इसका सम्बन्ध तो मन से है, इस लिए सुख और शांति के लिए हमें अपना मन संयत करना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु मन तो बड़ा ही चंचल, उच्छृंखल है। उसे वश में करना बहुत ही कठिन है। तो फिर सुख शांति प्राप्त करने का उपाय क्या है ?

वस्तुतः मन पर हमारे जन्म-जन्मान्तरों के कार्यों तथा इच्छाओं का बराबर प्रभाव पड़ता है। जब हमारी मृत्यु हो जाती है तब हमारा पार्थिव शरीर तो छूट जाता है, किन्तु मन पर पड़े प्रभाव और इच्छाओं का शरीर नष्ट नहीं होता। मन के इसी शरीर को संस्कार कहते हैं। जब तक हमारे संस्कार समाप्त नहीं होते, तब तक मन इसी प्रकार भटकता रहता है। इन संस्कारों के कारण ही हमें बारम्बार शरीर धारण करना पड़ता है, और शरीर धारण करने पर कर्म करना स्वाभाविक है। कर्मों से संस्कार बनते रहते हैं, और संस्कारों से पुनः शरीर। इस प्रकार हम जीवन-मरण के परम्परागत इस जाल से मुक्त नहीं हो पाते और यों ही भटकते रहते हैं। इसके लिये

आवश्यक है कि हम अपना ध्येय निश्चित कर लें। यह ध्येय होना चाहिए-भौतिक सुख नहीं अपितु जीवन मरण के बन्धन से मुक्ति पाना, शरीर धारण करने से छुटकारा पाना। तब हमारे संकल्प भी तदनुकूल बनने लगेंगे, और संकल्पों के अनुसार ही संस्कार। फिर हम स्वभावतः शरीर धारण करने से मुक्ति प्राप्त कर सकेंगे। अब यहाँ एक बात विचारणीय है कि आवागमन से छुटकारा पाना जो हमारा निकटतम लक्ष्य था परम ध्येय नहीं है। यह तो प्रथम सोपान मात्र है। यह साधन है जिसके द्वारा हम ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं, और शाश्वत आनन्द में लीन होते हैं, सिद्धि नहीं। प्रायः लोग साधन को ही सिद्धि मान बैठते हैं। अर्थात् जीवन मरण के बन्धन से छुटकारा पाना ही अपना अन्तिम लक्ष्य समझ बैठते हैं। ऐसी दशा में लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाना सम्भव ही है। यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा गया है कि अपने चरम ध्येय अर्थात् ईश्वर प्राप्ति के पहले हमें सर्व प्रथम जो ध्येय बनाना पड़ता है, वह है आवागमन से मुक्ति। किन्त वह सवर्था प्राथमिक ध्येय या प्रथम सोपान मात्र ही है। इससे नीचा यदि कोई ध्येय है, तो उसे ध्येय मानना ही अनुचित है, क्योंकि स्थूल बन्धनों से मुक्त होने के पश्चात भी बहुत से सूक्ष्म बन्धनों के आवरण हैं जिनको नष्ट करने के पश्चात ही हम सर्वतः निर्लिप्त दशा को प्राप्त हो पाते हैं। ठीक यही बात हमारे मिशन के नियम संख्या ३ में कही गई है। " मनुष्य को चाहिए कि वह अपना ध्येय निश्चित कर ले और वह ध्येय है ईश्वर में स्थाई रुप से लय अवस्था प्राप्त करना और जब तक वह अवस्था प्राप्त न हो तब तक चैन न आवे। "

❀❀❀❀

अनुपम दर्शन

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी 'संध्या')

सखी री, मेरे प्रभु को रूप निहार !
अनुपम रूप माधुरी जा की त्रिभुवन नहि अनुहार ॥१॥
राम न जानूँ कृष्ण न जानूँ उपमा कोउ न ठहार।
खोलूँ नैन निहारूँ निज प्रभु ध्याऊँ हृदय मँझार ॥२॥
तनहि अध्यातम, मनहि महातम, सृष्टि रूप विस्तार।
दुर्लभ पद करतल-गत जा के सोइ आतम-आधार ॥३॥
जेहि महिमा कोऊ गाइ सकत नहि, वेद न पावत पार।
ताहि अनूठी छवि पर 'सन्ध्या' निशि बासर बलिहार ॥४॥

★ स्तवराज ★

—:❀:—

यस्मिन्सर्वं यतस्सर्वं यस्सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो देवः तस्मै सर्वात्मने नमः ॥
यस्सर्वप्राणिनां देहे साक्षिभूतो ह्यवस्थितः ।
अक्षरः क्षरमाणानां तस्मै साक्ष्यात्मने नमः ॥

[जिसमें सब है; जिससे सब है; जो सब है; जो सभी कहीं है; और जो सर्व मय है, उस सर्वस्वरूप देव को नमस्कार है ।

जो समस्त प्राणियों के शरीर में साक्षी होकर स्थित है, नाशवान वस्तुओं में अविनाशी उस साक्ष्यस्वरूप को नमस्कार है ।]

—महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म द्वारा स्तवन ।

[In whom lies everything; from whom emerges everything; who is everything; who is everywhere; who pervades and is pervaded by everything, to That Lord of the form of everything we offer obeisance.

Who is firmly established as a witness in the body of all the creatures; who is the imperishable in the perishing objects, to That Lord of the form of witness we offer obeisance.]

—Bhisha's prayer in Mahabharata Shantiparva.

Hints to a Seeker

(Shri Ram Chandra Ji, President S. R. C. M.)

I hold that mere questions and answers can never reveal the mysterious interior of a man. which can actually be known only through close association (Sat-Sang) and practice (Abhyas). I may frankly confess to you that I have studied no books for I never thought them worthwhile. I aimed at Reality which I thought to be the only thing worth having, and left the study of books for the scholars and Pandits. Whatever I say or write is on the basis of my own experience and Anubhava on the path of Realization irrespective of what Shankar or Ramanuja or others might have said about their own. I no doubt do read sometimes now, but that only by way of recreation, and I try to retain as much as I can for the sake of easy expression. I remember one such thing which I had read in Vivek-Chudamani by Shankaracharya, which means:—

"Books do not help us in Realisation; and when

Realisation is achieved books are useless"

When we start practising, and are in quest of our ultimate goal, we fix upon that which seems helpful to us in our pursuit. We consequently begin to imagine that every thing depends upon God's will, so that we may remain connected with it. It gradually develops into closeness and attachment which in true sense means the beginning of Layavastha (merging). For that we practise love,

devotion and all other means, conducive to our purpose. We can as well say that our free will extends so far as our limited sphere goes, and God's will as far as His unlimited sphere goes. We can not profess our will to be the same as that of God until we shatter our limitations and bondages. This is our real pursuit and we do it in order to secure merging with Reality. This topic is dealt with in another Hindi book which will soon go to press*. In it I have explained how after losing his individuality a man can become identical with Brahm. The relation between God's and Man's will may be expressed in the way that when we look to it (i. e. God's will) the greater thing begins to attract the smaller thing. We begin to dwell in a state of Non-duality when we become one with Him (The Absolute) after shattering all our Limitations. But we start from Duality and after marching on finally come to Non-duality automatically.

As regards your question whether all proceed towards God spontaniously or by God's will, it may suffice to say that every river joins itself with the ocean losing its own identity altogether. The ocean does not come to mix with the river. Just so do we proceed towards the origin. A time shall be when all will merge in It, and that will be the time of Mahapralaya. We practise only to cut short our way, and thus be saved from miseries of the innumerable lives till then.

*The book mentioned here is अन्तर की ओर which has now been published.

Prakrati came into existence at the time of creation through the effect of the revolving motions (round the Centre). The motions generated power which subsequently led to be the cause of creation. I feel that Prakrati loses its existence in Mahapralaya for if any composed up thing remains in existence, Mahapralaya has not been effected in true sense. What remains after that is but the one, we may call it Zero or the Base for the sake of understanding. No prakrati and no universe can stand without the Base. There must be a backing for the existence & that backing is God or Brahm. Existence is meaningless if it has nothing to stand upon. As for Prarabdh Karma I think and see in my vision that they are in store for Bhog (as every action of body or mind produces some effect). We can attain liberation when we have cleaerd ourselves of all the past impressions. It is of course a tedious task. In Raj Yoga, they appear for Bhog in an almost fried-up state due to Abhyas and good guidance. The process of Bhog is also carriedon during sleep provided the Master–the essential need in spiritualism–is worthy of the task to bring these things round for Bhog in dream. We have only to unveil ourselves through devotional practices. If you want to taste the real nectar of life, come forward into the field with undaunted courage, not minding the ups and downs of fortune. That is the thing needed for spiritual advancement, and not that we should pass our life on charity and alms. The real sacrifice is not to leave the job, or office and retire to the forest but to lose your ownself, that is needed in a true seeker.

You asked me about Nirvikalpa-Samadhi. It is of course a Yogic attainment, but it will not solve your problem. It can bring you to a state of salvation but liberation is something else, as given in the Reality at Dawn. When you become extremely subtle (suksham) akin to God, then only you can think yourself fit for Liberation. That we strive for in our Abhyas.

Suppose you attain Nirvikalpa-Samadhi, even then Kalpna remains in some form or the other. Besides, the state of intertness acquired can not continue constantly as we have to attend to our duties too. But suppose we do not mind them, even then the preservation of the body (one of our sacred duties) still remains; and it is indispensable too for the attainment of perfection. If the same condition prevails constantly we can not evidently be mindful of it. The real state of samadhi is that in which we remain attached with Reality-Pure and Simple every moment, no matter we may be busy all the time with our worldly work and duties. It is known as Sahaj-Samadhi, one of the highest attainments and the very basis of Nirvan. Its merits can not be described in words but can be realised by one who abides in it. It is not so easy as its name denotes. It was highly spoken of by Saint Kabir, and it is the thing worth gaining.

I may tell you one thing more, viz. that for the sake of proper Abhyas try to seek the adept. When you find such a one give yourself up unto him. I think I have sufficiently dealt with what you

needed and how it remains for you to play the part of a true seeker and adopt means helpful in attaining the goal. There are three signs which indicate that we are nearing the goal. They are (1) Divine action (2) Divine wisdom & (3) Divine thoughts. Try to develop these in yourself. For that we have a simple method based on the process of Yogic transmission which helps the Abhyasi a good deal on the path. Its efficacy can be known only if one does it for some time. We apply the simple method because we have to gain a simple thing. If this idea is rooted deep in the heart, it is sure to bear fruit soon. Is there any thing more you want to ask me ? I think there is one still, and it is how to attain perfection ! Is it not so ? I may tell you most frankly that it is not the least difficult, provided you get a capable guide. Now seek one such. It is my freindly advice to you, and when you get him give yourself up in toto. His association will reveal to you much and that may also serve as a method to find him out. I have wasted a good deal of your time as only one sentence was enough for the reply. It is-'seek in you and you will find in yourself-the Master is there-but when ?-only when you are not there.'

● ● ●

—From a letter to an inquirer.

Phenomena of pain & pleasure.

(SHRI B. P. SRIVASTAVA, B. A. LL. B.)

The natural desire of all animate objects is to avoid pain and to acquire pleasure. The motive of all animate volition, acts and thoughts of existence whether voluntary or involuntary partakes of this tendency. This leads one to the conclusion that there is assimilation or acceptance of the condition conducive to well-being and there is resistence in the case of contrary condition. It is thus clear that the final resting place for such a motive is only that state which is free from pain and opposition of every description. An examination of the phenomena of pain and pleasure, therefore constitutes an essential step for their correct comprehension and for the selection of such means as would result in the attainment of the desired state.

Before an inquiry into the phenomena of pain and pleasure is taken up it is desirable to examine the part which the sensory currents play in these phenomena. It is common experience that pain or pleasure is felt when the sentient entity is in the normal condition of wakefulness. The moment the entity passes into the condition of dream or deep slumber or that of trance there is no perception of pain or pleasure. It, therefore, leads us to conclude that the main factor in the perception of pain or pleasure is that SOMETHING which recedes or becomes inactive at the time when transmutation of condition referred to above takes place. That

SOMETHING is technically known as sensory current which manifests itself in the form of attention. A person deeply engaged in the solution of intricate mathematical problem does not become cognisant of the happenings around him. The cause of this non-cognizance is the diversion of attention from other things resulting in the cessation of other perceptions. The fundamental law of sensory-action would thus apear to be that it manifests itself in the form of attention and its strength varies according to the intensity of attention. The attention has innumerable shades and degrees, and in accordance with them the intensity of perception varies. All perceptions may be broadly divided into the main two features of pain and pleasure.

Pain is of two categories-physical and mental. The sensory currents act in both the cases. A person receives a knifecut or contused wound and the nerves occupying that portion are affected resulting in the forcible ejectment of sensory currents and the transmission of this condition by the adjoining unaffected nerves to the sentient entity produces the sensation known as physical pain. Mental pain is caused by shock to mental associations. When there is such a shock there is always a feeling of non-fulfilment of some desire or separation from a cherished object or loss or injury to the object attached to by natural affinities or otherwise. In all these conditions a forcible severance or shock occurs to the association and the attention diverted reacts upon the mental plane and produces the phenomenon of pain. It may also be stated that the conductors

of sensory action in the case of physical pain are nerves while in the case of mental pain the communion is by means of thoughts.

Pleasure appears to be a condition opposite to that of pain. It would, therefore, follow that instead of forcible ejectment of the sensory currents there should be concentration thereof. This may be made clear by means of an example. The charm of enrapturing music is at once dispelled if a message of sudden illness of a relation is brought in and if the message cannot be attended to immediately the same music becomes a source of pain. So in all cases of pleasure it is the concentration of attention which evokes interest and is the real source of delight. The concentration besides being a source of pleasure is refulgent and flashes forth many hidden things. The analysis of the phenomena of pain and pleasure reveals the path of happiness but does not throw any light on the inherent nature and essence of that SOMETHING which sends forth sensory currents. Suffice it to say here that inherent essence of spirit-force is joy, energy and intelligence.

The object of religion in its extreme analytical aspect is to attain supreme bliss entirely free from pain and opposition of every description. A religion devoid of practical and scientific aspects and shrouded in setimentality, mysticism and dogmatic faith is of no avail. In religion also, on the lines of other scientific research, the object in view should clearly be defined and practical measures prescribed and

adopted for the attainment of the object. SAHAJ-MARGA as proprounded by our accredited Master has the distinction of fulfilling all these conditions. The practical devotional methods of the system coupled with the invaluable help of the guide takes the abhyasi across the plane of association of spirit current with Matter and mind, which causes the phenomena of pain and pleasure in the world.

●●●

× × × × × ×

A zealouls devotee was eloquently decryring 'Reason' and eulogising 'Faith'.

The master corrected him, "You are taking the help of 'Reason' itself in decrying 'Reason'. No doubt there are regions beyong 'Reason'. But before reaching the top, the trunk must be scaled and climbed".

●

Human Beings who live in God

[SHRI ISHWAR SAHAI JI]

Man as commonly taken into consideration, is something obviously apart from God. This may not be a wrong view when judged at the surface level. The reason for the difference is quite clear. Man is limited, bound and transitory, while God is unlimited Infinite and Eternal. Thus man, being in apparent contrast with God is said to be apart from Him.

The Man, as an individual, relates to the physical form of Being, enclosed within the grossest material covering-the body, enlivened to consciousness and activity by a mysterious inner force. When this vital force deserts, the man is said to be dead. This is generally taken to be the end of man. But death is by no means the end of the man's existence. It is only a change from the grosser form of existence to a comparatively finer form, and the existence of man continues, though in a subtler form, even after death. This brings to our mind an idea of differenciation between the apparent man and the Real man.

THE REAL MAN is, a finer or subtler being, which may for our human understanding, be taken as Soul or Spirit. Usually man as the Spirity is often taken to be the Real man in a broader sense. But It may not be exactly so, for that, which is at the very root, can alone be taken as Reality. Now soul, at the time it leaves the body, is not as it originally

was, for though relieved of its outmost grosser covering, it is still engulfed within numerous subtler coverings of Sanskars, Maya and Ego. Hence it is a good deal off from its primeval state of perfect subtleness-the Origin. The coverings contribute bit by bit to the grossness of being and as such the soul, being in itself, a grosser thing, the Real man is to be traced out in the deeper-most layers of super-finest subtleness,

THE DIFFERENCE between God and Man, though so great to our outer view, is in fact insignificant when we take into consideration the primeval state of Man's existence. The individual soul, though undoubtedly a part of the Great Universal Soul is in its present state separated from it. The individual soul, under limitations and bondages is the Man whereas the Universal soul Unlimited and Infinite-is God. Except for this little difference they are both perfectly identical. The idea has been nicely illustrated by the Master-President of the Mission in the following way. A thick covering of air surrounds the entire globe and it is almost the same every where. But air nearer the earth is heavier and denser than that at a higher level. The reduction of density goes on increasing as we go higher and higher, till at the higher-most level its very presence may be inconcievable to our human perception and for want of capacity to realise it in its absolute state-the Nonentity-,one may safely presume its total absence. Now the difference between God and Man is the same as between the air at the surface level and that at the highest level, the former being compared to Man and the latter to

God. Thus man being originally identical with God differs from Him in respect of density or grossness which account for the bondages of the soul.

ALL THAT IS TO BE DONE, now, is to remove this density of being which serves as a bar to our approach to Reality. Our march to-wards God comprises of continuous elimination of the successive coverings of grossness one after the other upto the final limit. In fact it means the giving up of all our belongings' which, inorder to maintain our grosser existence, we have gathered so far, in the form of a tiny creation of our own making. It is this individual creation of ours that we have to dissolve, so as to acquire, the original state of perfect subtleness, free from all limitations.

LIVING IN GOD', thus refers to the final state of absolute subtleness or complete Negation- the Zero point of man's existence, where he is almost one with Nature. This can be attained after one has dissolved his entire individual creation. Thus man who lives in God' may at that highest stage of perfection be taken to mean as one who lives as God'. But this may carry different meanings accor-ding to the different conceptions of God entertained by people. Taking the view of God as the possessor of all finest attributes, one may naturally conclude that a man having the noble qualities of righteous-ness and virtue is the one who lives in God, and this may not be unreasonable to same extent. Noble qualities, no doubt, constitute an important step towords godliness, but still there remains a lot ahead

which must be attained for the purpose. A simple question, 'whether God himself knows that He is the possessor of all finest attributes', will solve this problem. In fact the very consciousness of virtue or righteousness is, in itself, a bondage in true sense, hence far away from the final state of Subtleness which is devoid of every thing-of even virtue, power and consciousness-, a state of perfect IGNORANCE and INACTIVITY. Thus one who lives as God, must be one who is free from all limitations to the last possible degree, abiding permanently in an almost UNCHANGING state of pure Existance.

THE CONDITION AT THE STAGE is very peculiar. It is a strange combination of Human and Divine, One abiding in this state of highest perfec-tion may to a layman's eye be, in no way, above the common level of an ordinary man, busy with his worldly pursuits, for the interests of life, yet at heart, he is quite away from them, doing every thing with a sense of Duty, in a machine-like manner, without any weight or pressure upon the mind. To him there may be nothing as virtue or vice, but only the Nature's demand for the occasion, for which his limbs automatically get into action without any previous thought or a sense of responsibility. He is in true sense an instrument of Nature, meant exclusively for the accomplishment of the Nature's work, be it in respect of self, the world or the Universe. He is simple and unassuming like Nature, innocent like a child and calm and peaceful like a lake without having any consciousness of it at all.

He does not belong to any particular nation, race or religion. To him all is One and he is one with It. His existance is universal in true sense. He is devoid of every thing, of even thoughts, feelings or emotions. Such being his real state, he may outwardly be playing the part of a common man, facing the ups and downs of an ordinary worldly life with an outward exposition of feelings and emotions, required for the occasion.

CONCLSION:-Such being the standard required for the attainment of permanent peace of the individual soul, it may not be an easy job for a man unless he is earnestly devoted to it. The slightest effort towards it may set a man on the path of righteousness wich is an essential factor of a spiritual life. For this purpose it is necessary at the very outset to take a broader view of things, discarding from the mind, feelings of selfishness, hatred and prejudice and adhere to the noble principles of Universal love and common brotherhood of man. Then alone can every man's due interests be safe and the World be brought to a state of balance & peace which is the main problem of the day.

●●●

× × × × ×

An inquirer, "What is the mark of having attained the state of Perfection ?"

The Master, "Simple enough. When you use the word 'I', but do not know or feel for whom it has been used".

Indian Culture & Philosophy.

[SHRI RAGHUNANDAN PRASAD, M. A., LL. B.]

A philosophy so long as it does not become assimilated to the faith and the life of a people is pure speculation, and a tiresome puzzle. In India we have almost numberless schools of Philosophy ranging from the materialism of Charvak to the vedantism of Shankar, but all these have not been assimilated to the faith and life of the people, and while they are important from the point of view of historical development of philosophic speculation, they are only distantly relevant from the point of the study of Indian Culture. Philosophy becomes a part of the culture of the people when it begins to get assimilated to their faith and influances their course of life.

Indian culture is primarily Hindu culture as modified by the influances of various currents of thought, belief and action. So in our analysis of Indian culture we shall concern ourselves with the Hindu culture as it exists at present in its modified form after assimilating various other influances.

There are some peculiar ideas which have become part and parcel of Hindu faith. For instance there is the idea that after his death man does not disappear absolutely and goes through a round of rebirth and redeath again anda gain according to his actions till he is finally emancipated and liberated. This idea has become an article of Hindu faith, &

it seems that he perceives the truth behind it as if by some supernatural instinct.

There is yet another idea that God permeates the world through and through and abides in the heart of every living object. The philosophic idea of the immanence of God is not a special gift of Hindu philosophy, but it has become a feature of Hindu culture and its special property. The Hindu mind refuses to listen to any argument against it, or listens to it only in order to reject it. This does not mean that the Hindu mind denies the transcendence of God, but it certainly denies that there is any real conflict or inconsistency between the two ideas of immanence and transcendence. Certain schools of thought in India have essayed to point out to the discrepancy between the two ideas, but the popular Hindu mind, without being able to answer to the critics of the established philosophy logically, has summarily refused to accept the existence of any discrepancy.

The third idea which has taken hold of the Hindu mass mind is that the world of every day life, as we see it, is not permanently true. It is changing and evanescent, and in the heart of this flux of change, there is the Real which persists through all change, and abides for ever.

These are the three fundamental ideas of the Hindu mass mind, and therefore the three great constituents of Hindu culture. These three ideas relate to soul, God and the world. You will find

that under these three ideas there is an attempt to reconcile what apparently seems to be irreconcilable. In the idea of soul there is an endeavour to reconcile the apparent conflict of life and death, in the second idea of God there is an endeavour to reconcile the apparent conflict of immanence and transcendance and in the third idea of the world there is an attempt to reconcile the transience and the permanence. It is a different thing whether you accept the attempt at this reconciliation as satisfactory and successful or not. But the attempt is there. This shows that the Hindu mind is not willing to reject either the thesis or the antithesis, but alway works towards a synthesis, and this constitutes the secret of his progress and the latent power of dynamism, which has helped it to maintain itself under most trying and adverse circumstances of Military defeat, political chaos and economic despair.

The result of this constant endeavour to reconcile the irreconcilable has been to develop a sense of balance in the Hindu mind and save it from fanaticism. But at the same time it has deprived it of the aggressive vigour of a fanatic which takes delight in acts of destruction and vandalism. Such acts have been very rare in the Hindu history, and wherever and whenever they have been committed it was by way of reprisal rather than that of attack. On the whole, the Hindu mind has not delighted in launching attacks upon others, and allowed them to live in accordance with their faith. The Zoroasterians when they came to India were

almost handful in number. They sought an asylem in India, and the Hindu India gave it to them with out any hitch or hesitation. It did not insist upon them to accept the Hindu way of life and thought. The first batch of Muslims also came to India not as conquerors, but as traders, and they too found a ready welcome in this land without any conditions or strings. Similarly Christianity reached India many centuries before it reached the Christian countries, and it was also allowed to live with dignity and honour on its own terms. Islam and Christianity did not accept many positive tenets of Indian thought, but there is nothing in their positive thought which Hinduism rejects, The Hindu thought affirms its truth, but also adds that it is true within certain specified limits. It is not the whole truth, but only one aspect of it. There is another side to it, which is equally true. Islam and Christianity deny some positive aspects of Hindu faith. They deny the rebirth, they deny the immanence, they deny the Hindu view of the world. Hinduism has no quarrel with them on that account, but when they want to force these denials upon Hinduism, then at times Hinduism hits them back and pays them in their own coins. The secret of the popularity of the Arya Samaj movement in the last quarter of the last century, lay in its emphasis upon the need for social reform, upon the acceptance of the western science and democratic way of thinking, as well as upon its power to hit back Islam and Christianity. This hitting back at Islam and Christianity was only a temporary phase in the life of the Hindu mass mind and passed away in course of a few decades.

The endeavour to affirm unity amidst apparent diversity and at the same time to affirm diversity in the underlying unity has been the constant feature of the Hindu culture. This endeavour has been very comprehensive, and embraces all spheres of life, thought and activity, whether individual or social. This endeavour has not always been successful, and at times the unity has been lost in disunity, and the bonds which unite the diversity in one unity have become very weak, and have resulted in the disintegration of Hinduism both politically and socially. But whenever this seeming diversity has been able to discover its soul of unity, it has at once become creative and synthetic.

The realisation of this unity consists in the interdependence of various aspects of diversity upon the submission to the direction and control of the underlying unity which wields them into a single unity of life and purpose. Thus the personal life has been divided into four Ashrams viz. Brahmacharya Grihastha, Banaprastha, and Sanyas; and social life has been divided into the four varanas viz. Brahmana, Kshatriya, Vaishya, and Shudra. The purpose of life has been conceived as the realisation of four padarthas viz. Dharma, Artha, Kama and Moksha.

So long as this unity of various ashramas and padarthas is maintained, the life is complete, integral and full. But once its unity is lost sight of, it spells disaster. It results into social disintegration through caste and class exploitation, it vitiates personal life, which either leads to the escapism of

the sanyas, or else it becomes engrossed in and engulfed by utter selfishness. The values of life and with it its meaning and purpose get perverted, and the life becomes a preoccupation with Artha and Kama, or it becomes divorced from them and takes refuge in Dharma and Moksha.

●●●

PRAYER

Where the mind is without fear and the head is held high;

Where knowledge is free;

Where the world has not been broken up into fragments by narrow domestic walls;

Where words come out from the depth of truth;

Where tireless striving stretches its arms towards perfection;

Where the clear stream of religion has not lost its way into the dreary desert sand of dead habit;

Where the mind is led forward by Thee into ever-widening thought and action;

Into that heaven of freedom, my Father, let my country awake !

—Rabindra Nath Tagore

Evils of Caste Prejudice.

(SHRI DURGA SHANKER AWASTHI)

Every one knows that caste prejudice has done and is doing a great harm to the people of this country.

The names of the various castes and the occupations broadly corresponding to them indicate that they have originated from the professions taken up by certain groups of persons. At first there appears to have been division of work in the society; and it being easier for a child to learn quickly and efficiently the profession of his father on minimum expense and also benefit by his experience, the same occupation was also taken up by the future generations; and gradually thus arose caste-system.

This utilitarian origin of caste-system having been lost sight of, we find that when a few people of one caste assemble they begin to denounce other castes right and left instead of thinking over the existing defects of their own society and making efforts to correct themselves. In this respect the spirit of Saint Kabir has to be appreciated. He equally criticised Hindus and Muslims wherever he found something wrong not with a view to condemn or denounce any society but to correct others; and this is why even those whom he vigorously criticised had reverence for him in his lifetime and even today. People in authority are seen becoming unjust and unfair in the discharge of their duty by showing

favour to their caste-fellows and denying favour or doing harm to others. Public men are seen preaching caste-prejudice during village, town or country elections and even in ordinary disputes. Instead of enquiring into the honesty, spirit of public service and the capacity of the candidate, votes are sought and given in the name of caste. We find people organizing simply to harm a member of the other caste or to give shelter and encourage a vicious act of a member of their own caste. When people of various castes are victims of caste-prejudice a feeling of retalliation is aroused in them and they are actuated to organize, and thus the poison of caste-prejudice goes on increasing. In this way caste-prejudice makes one narrow-minded and puts bar to free thinking.

Caste-prejudice has brought about the idea of inequality in the society, and in consequence disregard, hatred and jealousy between man and man. As a matter of fact the physical body of all men is made up of the same elements and the psychic body of the same 'gunas' i. e., 'sat', 'raj' and 'tam'. And castes being no measure of either self-purification or goodness, no one can claim to be superior on that account. For centuries members of the scheduled castes were kept humiliated, uneducated, down-trodden and even were not allowed to worship or study the scriptures and practise spirituality by the members of the superior castes. Since the members of the superior class are responsible for their long suffering, it is their duty to correct themselves and work for their uplift.

A spiritual aspirant should try to develop universal love for he has to realize the 'Atman' which is alike in all the creation while caste prejudice promotes hatred in the society as already stated.

Even now we find that professions are carried on mostly on the basis of caste and the members of technical castes are always reluctant to let members of other castes take up or even learn their profession howsoever skillful the member of that other caste may be. Similarly a Brahmin sanskrit teacher would be reluctant to impart the knowledge of the scriptures to members of the other caste. So caste system checks development of arts and craft and growth of knowledge.

Members of the superior class were considered to be ideal in the Hindu society. They are found to be making capital of the past even now.

Study of scriptures and training and practice of spirituality are considered to be the exclusive right of Brahmins. It is commonsense that one who has knowledge of some subject can teach it to others. but a non-Brahmin having sublime practical and theoretical knowledge cannot be considered to be a spiritual teacher, while so many Brahmins having no practical or theoretical knowledge of spirituality are found preaching spirituality styling themselves as Gurus.

When the sun shines darkness must go and such state of affairs cannot continue for long. ●●●

Self Surrender

(S. P. SRIVASTAVA, M. A.)

The ancient sages have laid down various paths to the ultimate destination of God- realization. These are the paths of knowledge (ज्ञान), action (कर्म), devotion (भक्ति), meditation (ध्यान), austerity (तप), recitation of the sacred name (जप) and so on. Among all these the path of devotion (भक्ति मार्ग) has almost universally and unequivocally been acclaimed as the easiest one. Patanjali recognizes it under the name of surrender to God (ईश्वर प्रणिधान).

The devotees again have been classified variously in the Hindu shastras.. In the XII chapter of Bhagavadgita, faced by Arjun's question as to who among the devotees are the most superior, Lord Krishna has been made to reply is a beautiful couplet:—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धयापरयोपेतास्ते मे युक्ततया मताः ॥१२।२॥

(In my opinion the most superior Yogis are they, who, having surrendered their hearts to me, and drenched through and through with faith supreme, worship me in eternal harmony).

In our own 'Sahaj Marga' system of Sadhana also this same method of Surrendering ones heart to the Master has been recognized as the easiest

and the most efficacious method of reaching the ultimate goal. Shri Babu Ji describes it as the path of having sold ones heart to the Divine Master.

But what is this 'selling of ones heart' ? In fact, the method does not require a great deal of effort. The increasing expenditure of effort really robs any method of its naturalness and fineness; and pushes out the nucleus of the will, involved in it, from the finer regions of the soul to the cruder regions of the outward behaviour. It is on account of this that many ardent devotees go to the temple, fall flat at the feet of the deity, sing the songs of surrender to the exhanstion of their vocal chords, but on coming out of the temple after a couple of such effortful hours, find themselves not an inch beyond where they had been before entering the temple.

The 'selling of ones heart' is just a matter of change in attitude, and requires hardly an infinitesimal fraction of a second. Suppose you are a student, and have got a pen, with which you take down notes in your class. One day you sell or just give the pen as a gift to your beloved friend. Suppose further that he leaves the pen with you with the request that you may go on taking notes as they will be of help to him. Now when you take down notes with the same pen in the same class, you feel a sort of change in your attitude towards the pen. The example is no doubt crude, and the analogy remains partial, as the heart and the pen, the beloved friend and the Master Supreme, taking down

class notes and the entire ordinary business of life are far more different from than similar to eachother. Still the essence of the crude example remains that it is the experience of the change in ones attitude towards ones own heart, that follows upon and characterises real surrender.

The surrender of heart requires an act of will. But the lighter and finer the act of will, the more effective its working. The most effective act of will, thus, starts from the finer and inner layers of our being, and extends to its grosser and outer aspects. It is for this reason that a faint yet firm conviction in somebody's heart that he is suffering from a fatal disease like T. B. very soon creates symptoms of physical exhaustion and break down, inspite of the best treatment being available. The natural course of evolution is from the subtle to the gross. Hence the real surrender is very often so light and subtle that the devotee remains quite unconscious of it. On the other hand grosser forms of surrender followed by a large amount of ritualistic paraphernalia mostly remain a mere demonstration.

Thus, self-surrender is the easiest way to God-realization. But the fearless of heart alone can tread upon this path. The 'selling of heart' in the manner, described above, is bound to bring about, sooner or later, an atittude of absolute renunciation. So the prosperous persons will hardly like to adopt this path. (Prosperity includes the wealth of knowledge, name and fame, abilities of head and heart, in short whatever gives a feeling of the pride for possessions)

It is, perhaps, this fact which has been brought out so beautifully by Christ when he says that 'it is easier for a camel to pass through the eye of a needle, than for a rich man to pass through the entrance to Heaven'.

This entire methodology of fine surrender of heart appears to have been emphasised by Lord Krishna when be tells Arjun at the end of the eleventh chapter of Bhagavadgita : "This glimpse of Me, as you have had it just now, is possible to be secured neither through the study of the Vedas, nor through austerity, nor through offerings and sacrifices, but only through single-minded devotion (अनन्य भक्ति)". This single-minded devotion can be expressed best as 'selling of heart'. In the words of a Persian poet :—

आशिकी चीस्त वगो बन्दा-ये-जानां बूदन ।
दिल बदस्ते दिगरे दादन व हैरां बूदन ॥

(What is falling in love ? say, being a man of the beloved: surrendering ones heart to the hands of another and feeling non-plussed.)

● ● ●

Essentials Commonly Ignored

(SHRI SHYAM SWARUP KAMTHAN, B. Com.)

Besides the unshakable faith, pure love, constant rememberance, and proper sadhana, an aspirant in spirituality requires to own humanity and disown inhuman actions, he has to seek eternal peace and give up the craze for momentary pleasure, he should cultivate his mind for judging the right & wrong, he ought to pour purity in his whole self and brush off impurity or evils.

We obsere that purity of mind and heart plays a very important role in the spiritual sphere. Now the question arises how to beeome pure. If we free ourselves from the impurities like Kama, Krodha, Lobha, Moha etc., we will become pure. To be free from these evils the best method is to busy the mind in constant rememberance. By such ceaseless rememberance all the Vasanas of the mind which bind us to the world, causing misery are gradually destroyed and our restless mind is made calm. I have heard Shri Babu Ji saying that everyone should try to become like a red-hot piece of coal so that if another ordinary black piece of coal is put beside it, it may also become red-hot like the firstone, Regarding Purity Shri Ramkrishna says, "The mind is like the needle covered with dirt and God is like a magnet. The needle cannot be drawn to the magnet and be united with it unless it is purified by the removal of the dirt. One should weep for God. Tears purify the mind and wash off the mud which is nothing but lust, greed, anger and other evil tendencies and worldly Vasanas. As soon as the impurities of the mind are washed away, one realises God.

Next we should cultivate the mind for judging the right and wrong. Although it is difficult to set any fixed principles for this, yut we may divide this practice into two stages. In the earlier stage we must compare our actions and judgements with those of one whom we have tested and recognized as a perfect guide, and adjust accordingly. Gradually this process of adjustment would take the shape of right habit. Habit is the second nature of man. In the later stage when we are sufficiently purified, the judgements are bound to be authoritatively right.

Lastly we should seek eternal pleasure and give up momentary craze. The difficulty arises due to the fact that people do not entirely fix their mind on their aim. But if their mind is entirely fixed on their object, desires for sense-pleasure and objects of world drop off by themselves. It is truly said, "Hold fast to the Lord. Keep that Supreme attachment intact so that you may be released from attachment that binds the soul."

Thus we find that when we have prepared ourselves to achieve the object and apply the means-sterling faith, constant rememberance, and proper sadhana-there is no reason why the success may not rush to us. "God is bound to pour Himself into thee as soon as He shall find thee ready."

● ● ●

Experiences of an Abhyasi.

[Under this permanent column, the personal experiences of the Abhyasis of our system of Sadhana are published. The names of the Abhyasis, however, are not published with a view to exercising a check over the natural tendency to indulging in self-praise, while giving personal experiences. The Abhyasis are requested to try to emphasise only such matters and events, while writing for this column, as may be helpful in throwing light on the special characteristics of our system of Sadhana.—Editor]

I had fallen ill. I had no money, and was hence unable to have any treatment. A friend of mine advised me to take up Sanyas. I had lost all hopes of life. So I accepted his advice: and decided to wait for death at the banks of the Ganges, thus being able possibly to carry some good Sanskars while departing from this life, or in the event of remaining alive to spend the rest of life singing hymns in the praise of the Protector of Life. I acted accordingly and became a Sanyasi.

The garb of a Sanyasi was adopted. But I was greatly perturbed due to the attraction of the mind in two opposite directions. On the one hand the worldly attractions had not lost their force, and on the other the heart pined for God-realization. Under the weight of this dual attraction, the garb of a Sanyasi seemed farcical. The reverence and devotion of others stung me like embers, and I used to weep before my Lord in melancholy evenings. Another disease—the sense of pride for the garb of a Sanyasi—seemed to be overtaking me so intensely that the proverb 'To get fasting imposed in an attempt to get rid of prayer' aptly described my condition of the moment. With a frail body, with a restless mind full of depression, I roamed about here and there praying for death, which would have been far better than the farcical life of a Sanyasi.

Whoever I met with, recommended his own prescription. None of the sermons and advices appealed to me—'Read Gita': 'Recite Ramayan regularly'; 'Count the beads of a rosary' and so on. Fasting I would take up, however, when restlessness increased; and this dulled the senses for the time being. But my heart pined for the peace that may become my life-companion. I met a host of Sanyasis too—a Paramhansa used to the intoixcation of Bhang; the other living on fruits alone; yet another taking nothing but milk; an Aalu Baba here, a Kachalu Swami there; somebody desirous of money, another anxious to increase the number of his disciples. And I roamed and roamed—poor, down-trodden, devoid of any practice or exercise. I found temples full of persons busy in abusing others, full of jealosy, sloth and vainity. I attended Kirtans and Katha Vartas, but my heart could not rest there—the performers and their audience were all engaged in mechanical demonstrations of the external; on the inner side there was nothing but filth, which sometimes showed its glimpses even on the outer. I got filled with aversion and wondered that even these people are treated as Protectors of Dharma, and claim to be Gurus.

And then, there appeared a ray of light in that gloomy life of mine. I got from a gentleman two

small pamphlets 'Guru Sandesh' and 'Sahaj Samadhi; I read these, and thanked the gentleman, to whom I will ever be grateful for having been introduced to this great organisation. I firmly determined to make my life worthwhile by coming into contact with this almighty worthy master. The good fortune of coming into contact with this infinite store of light, and of thereby putting my life on the right track soon arrived. Now I am alright. There is peace at heart. Anger has greatly decreased. How much shall I say what is there and what is not ! For it all concerns an actual practice and a direc experience !! The taste of pudding is in eating it !!! Om Shanti.

—An Abhyasi

(Translated from Hindi)

'सहज-मार्ग' पत्रिका के नियम

--:❀❀❀:--

१—'सहज मार्ग' प्रति वर्ष चार बार चैत्र, आषाढ़, अश्विन, पौष अथवा मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर में प्रकाशित होता है।

२—'सहज मार्ग' का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना पद्धति से सम्बन्धित गूढ़ रहस्यों का यथा सम्भव उपयुक्त प्रकाशन है।

३—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ आने वाले लेखों, कविताओं, कहानियों आदि का विषय मुख्यत: आध्यात्मिक एवं साँस्कृतिक होना चाहिए।

४—लेखों, कहानियों, कविताओं आदि के घटाने बढ़ाने, छापने या न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को रहेगा। लेखों आदि में प्रकाशित मत का उत्तरदायित्व सम्पादक पर नहीं, किन्तु स्वयं लेखक पर होगा।

५—प्रकाशनार्थ आने वाले लेख आदि देवनागरी अथवा रोमन लिपि में कागज के एक ओर शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखे या टाइप किये हुए होने चाहिए।

६—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि निम्नांकित पते पर भेजे जाने चाहिए:—

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव
गुप्ता भवन महराजनगर,
लमखीपुर—खीरी (उ० प्र०)

७—'सहज मार्ग' में श्री रामचन्द्र मिशन के अध्यक्ष की स्वीकृति प्राप्त विज्ञापन प्रकाशित हो सकते हैं। विज्ञापन की दर निम्नलिखित हैं:—

कवर का चौथा पृष्ठ पूरा ३०)	आधा १५)
अन्य साधारण पृष्ठ पूरा २०)	आधा १०)
	चौथाई ६)

८—'सहज मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) है, और एक प्रति का १)

श्री रामचन्द्र मिशन का प्रकाशित साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
1-Efficacy of Rajyoga by Shri RamchandraJi	*Shahjahanpur (U. P.)*	(रू० नयेपैसे) *2-50*
2-Reality at Dawn	*Do*	*1-50*
३-सत्योदयम् (तमिल)	अनुवादक श्री अ० बालसुब्रह्मण्यम्	
(Reality at Dawn in Tamil translaion by A. Balasubramaniam)		1-50
४-सहजमार्ग के दस उसूलों की शरह (उर्दू)	श्री रामचन्द्र जी, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)	१-५०
५-अनन्त की ओर	,, ,,	१-००
६-गुरु सन्देश	,, ,,	०-२५
७-सहज समाधि	कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)	०-२५

'सहज मार्ग'—पत्रिका के पुराने अङ्क

'सहज-मार्ग' पत्रिका के पहले वर्ष के अङ्क अब अप्राप्य हैं। दूसरे वर्ष के अङ्कों की फ़ाइल की थोड़ी सी प्रतियाँ शेष हैं।

मूल्य—अजिल्द ३) सजिल्द ३॥)

मिलने का पता—सेक्रेटरी, श्री रामचन्द्र मिशन,
शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

Premraj Press, Naibasti, Hospital Road, Lakhimpur.